खण्ड 3
दशरूपक (धनिक एवं धनञ्जय) प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रकाश

खण्ड 3 का परिचय

नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक' का अध्ययन आप तृतीय खण्ड में करेगें। प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रकाश को इकाइयों में विभाजित करके अध्ययन की सुविधा के लिए वर्णन प्रस्तुत किए गये हैं। इस खण्ड की इकाइयॉ निम्नानुसार हैं–

इकाई 14 ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक के भेद एवं उनके भेदक तत्व, वस्तुस्वरूप एवं उनके भेद

इकाई 15 अर्थप्रकृतियॉ और कार्यावस्थायें

इकाई 16 सन्धियॉ एवं अर्थोपक्षेपक

इकाई 17 नायक एवं नायिका– भेद

इकाई 18 नायक के सहायक और नायिका की सहायिकाऍ, नाट्यवृत्तियॉ

इकाई 19 नाटक के आवश्यक अंग

इकाई 20 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण, भाग 1– नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम

इकाई 21 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण, भाग 2– व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक, ईहामृग, नाटिका

इस खण्ड की उपर्युक्त इकाइयों में आप नाटकों के भेदक तत्व, वस्तु का स्वरूप, कार्य की पॉच अवस्थाऍ, नाटक की संधियों के साथ–साथ नायक एवं नायिका भेदों का अध्ययन कर लेने के बाद इनके सहायक तत्वों के वर्णनों का अध्ययन करेगें। अंतिम तीन इकाइयों में नाटक के आवश्यक अंगों, रूपक के दश भेदों का वर्णन प्रस्तुत है। इस खण्ड के अध्ययन के बाद आप नाटक के निर्माण व प्रस्तुतीकरण में कितने तत्वों का समावेश होता है। इसे भलीभॉति समझा सकेगें।

इकाई 14 ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक के भेद एवं उसके भेदक तत्व, वस्तुस्वरूप एवं उनके भेद

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप दशरूपक ग्रन्थ में वर्णित निम्न विषयों को जान पाएगें

- आचार्य धनंजय प्रणीत दशरूपक के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- दशरूपक ग्रन्थ के प्रयोजनों से परिचित हो सकेंगे।
- रूपकों का स्वरूप एवं उनके भेदों को जान सकेंगे।
- रूपकों के भेदक–तत्वों से परिचित हो सकेंगे।
- कथावस्तु के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- अपने नाट्य विषय ज्ञान में वृद्धि कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य धनंजय प्रणीत दशरूपक एक प्रमुख ग्रन्थ है। आचार्य के नाट्यशास्त्र में विस्तार से वर्णित नाट्य विषयक सिद्धान्तों का सर्वांगीण विश्लेषण इस ग्रन्थ में सरल तथा संक्षिप्त रूप में किया गया है। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है–''नाट्यानां किन्तु किंचित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि''। कारिकाओं में निबद्ध यह ग्रन्थ चार प्रकाशों अथवा अध्यायों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में रूपकों का स्वरूप, कथावस्तु 64 सन्ध्य³~xऔर अर्थोपक्षेपकों का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक, नायिका, तथा वृत्तियों का वर्णन किया गया है। तृतीय तथा चतुर्थ प्रकाशों में क्रमशः रूपकों तथा रसों का निरूपण किया गया है। दशरूपक की कारिकाओं पर आचार्य धनिक द्वारा लिखी गई वृत्ति ''अवलोक'' का विशेष महत्व है। गद्य विधा में

लिखे गए वृत्ति भाग में कारिकाओं को सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। नाटक आदि रूपक आनन्द देने के साथ–साथ समाज को दिशा देने के भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनमें जीवन की विविधताओं को तथा समाज की दशा को रूचिपूर्ण ढ़ंग से मंचन द्वारा प्रदर्शित किया जात है। दशरूपक में नाटकादि रूपक के सभी तत्वों का सरल रूप में प्रतिपादन किया गया है। जिसका अध्ययन आपके लिए अत्यन्त अवश्यक है। दशरूपक में वर्णित नाट्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में से आप पाठ्यक्रम की इस इकाई के अन्तर्गत ग्रन्थ के प्रयोजन, रूपक के भेदों, रूपकों के भेदक तीन तत्वों, कथावस्तु का स्वरूप और कथावस्तु के भेदों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

14.2 दशरूपक ग्रन्थ का प्रयोजन

आचार्य धनंजय द्वारा रचित दशरूपक नामक ग्रन्थ एक प्रमुख नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। जिसमें रूपक विषयक सिद्धान्तों का सर्वांगीण विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्र विषय पश्चाद्वर्ती विद्यानाथकृत प्रतापरूद्रीय, विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण, भानुदत्त रचित रसमंजरी, भावमिश्र की रससरसी तथा गुणचन्द्र व रामचन्द्र प्रणीत नाट्यदर्पण आदि अनेक नाट्यशास्त्री ग्रन्थों का पथ प्रदर्शक रहा है।

''प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।।'' इस दृष्टि से प्रथम प्रकाश में आचार्य धनंजय ने अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत ग्रन्थ के प्रयोजन का उल्लेख किया परिसमाप्ति हेतु आचार्य धनंजय अपने इष्टदेवता की संस्तुति निम्न पद्यों से करते है–

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते।
मदाभोग घनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे।।
दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च।।'(1/1–2)

उक्त दोनों पद्यों के माध्यम से आचार्य धनिक अपने इष्ट गणेश, विष्णु तथा आचार्य भरत को नमन करते हैं। जिसके पश्चात् आचार्य इस ग्रन्थ में पाठक की प्रवृत्ति के हेतु का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। दशरूपक में उल्लेख है कि –

'' कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन विदग्धीम।।''(1/3)

अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष पर कृपा करते हुए देवी सरस्वती किसी विषय को इस प्रकार से घटित कर देती है कि उस विषय अथवा ग्रन्थ का अनुशीलन कर अन्य पाठक विदग्ध हो जाता है।

नाट्यशास्त्रीय समस्त सिद्धान्तों का साङ्गोपाङ्ग वर्णनदशरूपक से पूर्व आचार्य भरत द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र में हो चुका था, तथ्य से आचार्य धनंजय सम्यक्तया परिचित हैं। जिस कारण पुनरूक्ति दोष का निवारण करते हुए आचार्य धनंजय लिखते हैं–

'' व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽजंसा।।''(1/5)

यतोहि विस्तृत विषययुक्त नाट्यशास्त्र के अध्ययन में मन्दबुद्धि वाले अध्येताओं को भ्रम हो जाता है, जिस कारण वे वास्तविक विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतः

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ को उन्ही के पदों का प्रयोग करते हुए सरल ढ़ंग से संक्षिप्त कर इस दशरूपक नामक ग्रन्थ की रचना की गई है। जिस कारण इस ग्रन्थ में पिष्टपेषण नहीं है, अपितु रूपक विषयक सिद्धान्तों को सरल ढ़ंग से अभिव्यक्त किया गया है।

ग्रन्थ के फल अर्थात् प्रयोजन का वर्णन करते हुए दशरूपक में लिखा है= ''इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपं किं फलमित्याह =

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासा दिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय।।''(1/6)

अर्थात् दशरूपक नामक इस ग्रन्थ का फल = प्रयोजन है= पाठकों को दस प्रकार के रूपकों का पाठकों को सम्यक् ज्ञान कराना। हम इन दस प्रकार के रूपकों का पर्यालोचन क्यों करें? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि नाटकादि दस प्रकार के रूपक = नाट्क आनन्द प्रदान करते है। इनके अनुशीलन से सहृदयों को सद्यः परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसके आस्वादन से पराङ्मुख हुए जो विद्वान् यह मानते है कि इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों के अध्ययन से जिस प्रकार व्युत्पत्ति की प्राप्ति होती है, ऐसे विद्वान् को नमन है। यहॉ नमन करना आदरार्थ नहीं अपितु परिहासार्थ किया गया है। आगे वृत्तिभाग में इसे और अधिक स्पष्ट रूप से आप समझ सकेंगे–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।।

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन

स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासदिवत

त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्।नम इति सोत्त्लुण्ठनम्।।''

यहॉ आचार्य भामह के द्वारा उक्त प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए आचार्य धनिक वृत्तिभाग में लिखते हैं कि कतिपय आचार्य (भामहादि) का मन्तव्य है कि अच्छे काव्य के आस्वादन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, तथा कलाओं में विचक्षणता प्राप्त होती है और सत्काव्य कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति भी कराता है। इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य धनंजय मानते है कि दशरूपकों का फल स्वयंवेद्य परमानन्द स्वरूप रस का आस्वादन मात्र है। इतिहासदि ग्रन्थों के अध्ययन की तरह नहीं, जो केवल त्रिवर्ग का ज्ञान मात्र कराते हैं। अतः जो विद्वान् काव्याध्ययन का फल त्रिवर्ग प्राप्ति बताते हैं, उन्हें नमस्कार है। यहा नमस्कार पद का प्रयोग मजाक उड़ाने अथवा परिहास के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार दशरूपक के प्रथम प्रकाश में दशरूपकों का प्रयोजन स्वयंवेद्य परमानन्द की प्रगति बताया गया है।

14.2.1 रूपक के भेद

आचार्य धनंजय द्वारा रचित दशरूपक का मुख्य विषय दस प्रकार के रूपकों का ज्ञान कराना है = '' इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्।'' रूपकों के भेदों का अध्ययन करने से पूर्व आपको यह जानना आवश्यक है कि रूपक किसे कहते हैं? रूपक का लक्षण क्या

है? दशरूपक में रूपक के समानार्थी नाट्य तथा रूप पदों का प्रयोग प्राप्त होता है। आचार्य धनंजय लिखते हैं –

अवस्थानुकृतिर्नाट् रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्।।(1/7)

अर्थात् काव्य में किसी पात्र का आङ्गिक, वाचिक, आचार्य तथा सात्विक नामक चतुर्विध अभिनयों के माध्यम से इस प्रकार अवस्थानुकरण किया जाना कि प्रेक्षकों को अभिनय कर्ता नट में पात्र की तादात्म्यापत्ति हो जाए, उसे नाट्य कहते हैं। उदाहरण स्वरूप अभिनेता भगवान राम की प्रत्येक अवस्था का इस तरह से अनुकरण कर अभिनय करे कि दर्शक उसे भगवान राम ही समझे। नाट्य के समय अभिनेता तथा भगवान राम में दर्शक को कोई भेद ही न प्रतीत हो। यही नाट्य दृश्यमान अर्थात् चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण ''रूप'' नाम्ना भी अभिहित होता है। इस नाट्य अथवा रूप को रूपक भी कहा जाता हे। यतोहि इसमें अभिनेता = नट में राम, कृष्ण, अर्जुन आदि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप किया जाता है। अतः इस नाट्य का एक नाम रूपक भी है। इत्थं एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीन भिन्न–भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

रस पर आश्रित रूपक के दस भेदों का दशरूपक में निम्नवत् उल्लेख प्राप्त होता है= ''रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्। एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण नाटिकायाः सङ्कीणेत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। तानेव दशभेदानुद्दिशति''

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।।''(1/8)

अर्थात् रसाश्रित रूपक शुद्ध रूप से दस प्रकार का होता है–1 नाटक 2. प्रकरण 3. भाण 4. प्रहसन 5. डिम 6. व्यायोग 7. समवकार 8. वीथि 9. अङ्क 10. ईहामृग। सङ्कीर्ण होने के कारण नाटिका का परिगणन रूपक के इन शुद्ध भेदों में नहीं किया जात है। यद्यपि सभी दस रूपक अनुकरणात्मक होने से एक होते हैं, पुनरपि ये भिन्न–भिन्न दस प्रकार के हैं।

यहॉ आपको शङ्का हो सकती है कि सभी दस रूपक अनुकरणात्मक होते हैं। इनमें नट में अनुकार्य रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है। फिर इनमें परस्पर भेद का क्या आधार है? इस शंका का निवारण करते हुए कहा गया है =''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।।''(1/11) अर्थात् रूपक के दस भेदो को एक दूसरे से पृथक्–पृथक् करने वाले तीन भेदक तत्व हैं = कथावस्तु, नेता एवं रस। रूपक वस्तुभेद, नेताभेद एवं रसभेद के कारण ही परस्पर भिन्न हैं।

यहाँ आपकों मन में यह भी शङ्का समुपस्थित हो सकती है कि जिस तरह भाण, प्रहसन आदि रूपक के भेद होते हैं, उसी तरह डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक एवं काव्य नामक नृत्य के सात भेद भी रूपकों में परिगणित होने चाहियें। इसका समाधान भी दशरूपक में वर्णित है कि –'' अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्।।''

अर्थात् भाव पर आश्रित नृत्य रूपक से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार ताल तथा लय पर आश्रित नृत्त भी रूपक से पृथक् है। रूपक का इन दोनों से भिन्न होने का कारण है उसका रसाश्रित होना, जो भाव की चरम परितोषसीमा है। रूपक भाव पर आश्रित न

होकर रसपरक होते हैं। यह रस सम्पूर्ण काव्य के उस वाक्यार्थ से अभिव्यक्त होता है, जो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से युक्त होता है। नाट्य शब्द की निष्पत्ति ''नट अवस्पन्दने'' धातु से होती है, जबकि नृत्य शब्द गात्रविक्षेपार्थक नृत् धातु से निष्पन्न होता है। नृत्यकला का प्रयोगकर्ता नर्तक कह जाता है, नट या अभिनेता नहीं। नृत्य केवल दर्शनीय मात्र होता है, उसमें कथनोपकथनों अथवा संवादों का अभाव रहता है। इत्थं स्पष्ट है कि नृत्य तथा नृत्त से नाटकादि दस रूपक सर्वथा भिन्न होते हैं। नाटकादि रूपकों में भावाश्रय नृत्य तथा शोभाजनक होने से नृत्त का प्रयोग यथावसर किया जात है। इस प्रकार ये रूपकों के उपकारक और शोभाविधायक माने जा सकते हैं।

14.2.2 रूपकों के भेदक तत्व

रूपकों के भेदक तत्त्व– आपने पूर्व में जाना है कि रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क तथा ईहामृग नामक दस भेद होते हैं। इन सभी में अनुकरण पाया जाना सामान्य है। जिस कारण इनमें कोई भेद परिलक्षित नहीं होता है। यहाँ आपके मस्तिष्क में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि फिर रूपक के इन दस भेदों में भिन्नता का क्या कारण है? वे कौन से तत्त्व हैं, जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करते हैं? इसका समाधान दशरूपक में निम्न प्रकार से किया गया है–

''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।''

वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति।''

कथावस्तु, नेता और रस रूपकों के भेदक तत्त्व हैं। दशरूपक के उक्त कथन से यह सिद्ध हो जात है कि यद्यपि रूपकों का अनुकरणात्मक होना उनमें सामान्य है किन्तु ये तीनों भेदक तत्त्व रूपकों में विशेष अथवा प्रमुख हैं तथा इनके कारण ही नाटक, प्रकरण, भाण आदि रूपक एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसे हम निम्न तालिका से समझ सकते हैं–

रूपक	वस्तु	नेता	रस
नाटक	प्रख्यात	धीरोदात्त, राजर्षि, देव	वीर/श्रृंगार
प्रकरण	कल्पित	धीरप्रशान्त, ब्राह्मण/वैश्य	–
भाण	–	विट, पण्डित	–
प्रहसन	–	पाखण्डी, विट, चेट, कंचुकि	हास्य
डिम	प्रख्यात	देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष	श्रृंगार व हास्य के अतिरिक्त अन्य छः रस
व्यायोग	–	प्रसिद्ध उद्धव व्यक्ति	–
समवकार	देवासुर सम्बद्ध प्रख्यात	देव–दानव	श्रृंगार
वीथि	कल्पित	एक या दो पात्र	–
अङ्क	प्रख्यात	प्राकृत मनुष्य	करूण
ईहामृग	मिश्रित	धीरोद्धत	श्रृंगार

इस नाट्य–संरचना में उक्त तीनों भेदक तत्त्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। हम देखते है कि वस्तु अर्थात् रूपक के इतिवृत्त का साध्य रस की अनुभूति है। इस साध्य की प्राप्ति का साधन नेता है। इस प्रकार वस्तु नेता तथा रस तीनों भेदक तत्त्व परस्पर घनिष्ठ रूप से असंम्पृक्त भी हैं। जिस प्रकार जीवात्मा को भौतिक शरीर के कारण दृश्मत्व प्राप्त होता है उसी प्रकार रूपक को वस्तु के कारण ही दृश्यत्व प्राप्त होता है।

14.3 वस्तु का स्वरूप

रूपकों में वस्तु मुख्य आधारभूत तत्व है इसे ही इतिवृत्त, कथानक अथवा कथावस्तु भी कहा है। आपने पूर्व में अध्ययन किया है कि वस्तु रूपकों के भेदक तत्वों में परिगणित है।

वस्तु शब्द की निष्पति 'वस्' धातु से होती है। जिसका सामान्य अर्थ है रहना या रहने का स्थान अथवा गृह। नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में वस्तु क तात्पर्य नाट्य का गृह है। इसी अर्थ में नाट्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि इतिवृत्त का प्रयोग किया गया है = ''इतिवृतं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्'' अर्थात् इतिवृत अथवा वस्तु नाट्य का शरीर है। जिस तरह हमारा भौतिक शरीर आत्मा का वास–स्थल है, उसी तरह नाट्य का वास–स्थल वस्तु को कहा गया है।

सामान्य रूप से लोक में जो महत्त्व पंच महाभूतों से निर्मित भौतिक शरीर का होता है, वही महत्त्व किसी रूपक में कथावस्तु का होता है। वस्तु के अभाव में रूपक के स्वरूप की कल्पना करना भी असम्भव है। कथावस्तु से तात्पर्य इस प्रकार के कविकल्पित अथवा सत्य लोकवृत्तान्त से है, जिसका एक निर्धारित क्रम तथा परिणाम हो। कथावस्तु को सुनते समय सामाजिक के मन में आगामी घटनाओं को जानने की उत्सुकता बनी रहती है। कवि द्वारा कथावस्तु की घटनाओं का संयोजन तर्क–सम्मत अन्तःसंबंधों के आधार पर पौवपर्य का विचार कर किया जाता है। कभी–कभी कवि द्वारा लोकवृत्त अथवा ऐतिहासिक घटनाओं के स्थान पर देवदानव, पशु–पक्षी, भूत–प्रेत आदि विषयों पर भी कथावस्तु का निर्माण किया जाता है, किन्तु इस तरह का उत्पाद्य अथवा मिश्र कथानक भी लोकपरम्परा द्वारा स्वीकृत तथा औचित्यपूर्ण अभिप्रायों के अनुसार ही होता है। जिस कारण वे काल्पनिक होते हुए भी विश्वसनीय प्रतीत होते है।

कथावस्तु के निर्माण के अधोलिखित आधार होते है :–

क) महाकाव्य – रामायण, महाभारत

ख) अष्टादश पुराण

ग) गुणाढ्य कृत बृहत्कथा

घ) इतिहास प्रसिद्ध घटना

ङ) लोककथा

च) उत्पाद्य/कल्पनाजन्य

उक्त किसी भी उपजीव्य के आधार पर कुशल रचनाकार अपनी नाट्य रचना का निर्माण करता है। यद्यपि वह रंगमंच की दृष्टि से कथावस्तु में औचित्य का विचार कर रसात्मकता, प्रभावोत्पादकता तथा औत्सुक्यता के आधान हेतु आवश्यक परिमार्जन अथवा परिवर्धन करने के लिए स्वतंत्र होता है। एतदर्थ दशरूपक में यथा स्थान उचित

निर्देश प्राप्त होते हैं तद्यथा नाटक के लक्षणों का विधान करते हुए आचार्य धनंजय ने लिखा है –

''यत् तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरूद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।।'' (3/24–25)

अर्थात् नाटक के इतिवृत्त में जो कथांश नायक अथवा रस की दृष्टि से अनुचित हो, उस भाग का नाटककार परित्याग कर दे अथवा इस प्रकार से परिवर्तित कर दे कि नेता अथवा रस का वह विरूद्ध तत्व हट जाए। उदाहरण स्वरूप मायुराजकृत उदात्तराघव नामक नाटक में नेता राम के द्वारा छलपूर्वक बालि के वध के वृत्तान्त का सर्वथा परित्याग किया गया है। इसी तरह प्रसिद्ध अभिज्ञानशाकुन्तलं नाटक में महाकवि कालिदास के द्वारा नेता दुष्यन्त के धीरोदात्त चरित्र को अकलुषित प्रदर्शित करने के लिए दुर्वासा ऋषि के शाप की कल्पना कर कथावस्तु में परिवर्तन किया गया है।

जिनका अध्ययन आप अगली इकाई में विस्तार से करेंगे। धर्म, अर्थ तथा काम रूप त्रिवर्ग इस कथावस्तु का फल = कार्य है। यह फल इनमें से एक भी हो सकता है कभी दो और कभी तीनों भी। जैसा कि दशरूपक में उल्लेख है =

''कार्य त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबान्धि च।'' (1/16)

रस एवं नेता के विरूद्ध कथांश के परिहार के पश्चात् नाटककार के द्वारा कथावस्तु का दो प्रकार से विभाग किया जाता है = सूचनीय तथा दर्शनीय। अर्थात् कथावस्तु के किस भाग का रंगमंच पर प्रदर्शन करना है एवं किस भाग का विष्कम्भकारि के माध्यम से सूचना मात्र देना है। इसके पश्चात् नाटक की कथावस्तु का विधान करते समय नाटककार के द्वारा उस कथावस्तु के प्रारम्भ एवं अन्त का निश्चय किया जाता है। कथावस्तु के आद्यन्त का निर्धारण करने के बाद में सम्पूर्ण कथा का पाँच भागों में विभाग करना चाहिए। इन पाँच विभागों को मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण नामक सन्धियों कहा गया है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों और आरम्भ, यत्न, प्राप्तयाशा, नियताप्ति तथा फलागम नाम पाँच कार्यावस्थाओं की योजना की जाती है।

14.3.1 वस्तु के भेद

कथावस्तु के स्वरूप के विषय में आप जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। आगे हम कथावस्तु के भेदों पर चर्चा करेंगे। कथावस्तु का साक्षात् संबंध नाटकीय पात्रों, दर्शकों तथा अपने उपजीव्य से होता है। इस कारण आधार के अनुसार कथावस्तु का पृथक्–पृथक् वर्गीकरण किया गया है। सर्वप्रथम हम स्वरूप की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों का अध्ययन करेंगे। कथावस्तु के भेदों का प्रतिपादन करते हुए आचार्य धनंजय दशरूपक में लिखते हैं =

''वस्तु च द्विधा।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंङ्गिकं विदुः।।'' (1/11)
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृतं स्यादाधिकारिकम्।। (1/12)
प्रासंङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।। (1/13)

अर्थात् कथावस्तु के दो भेद होते हैं =

क) आधिकारिक कथावस्तु।

ख) प्रासङ्गिक कथावस्तु।

इनमें से नाट्य की प्रधान = मुख्य कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु कही जाती है। यथा रामायण में राम–सीता का वृत्तान्त। आप इसे रामायण की आधिकारिक कथावस्तु कह सकते हैं। इस आधिकारिक कथावस्तु के साथ–साथ अङ्गरूप में जिन उपकथाओं की योजना की जाती है, वे प्रासङ्गिक कथावस्तु होती हैं। यथा रामायण में राम–सीता की आधिकारिक कथा के साथ–साथ सुग्रीव–विभीषण आदि का वृत्तान्त। यह प्रासङ्गिक कथावस्तु प्रधान आधिकारिक कथावस्तु के साथ फल निर्वहणता में सहायता प्रदान करते हुए मुख्य नेता की पोषक होती है।

आधिकारिक पद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बताते हुए कहा गया है कि फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार होता है और उसका स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फलभोक्ता द्वारा फल की प्राप्ति पर्यन्त की कथावस्तु आधिकारिक कही जाती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु वह कथा होती है आधिकारिक कथा के प्रयोजनार्थ होती है। प्रसंगवशात् उसे स्वयं को भी फल की प्राप्ति हो जाती है। प्रासङ्गिक कथावस्तु के पुनः दो भेद होते हैं=

(क) पताका (ख) प्रकरी

अनुबन्ध से युक्त तथा नाटकादि रूपकों में दूर तक चलने वाली प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद को पताका कहते हैं= ''सानुबन्धं पताकाख्यम्'' जिस तरह रामायण में सुग्रीव की कथा को पताका कह सकते हैं। यह कथा आधिकारिक कथा व नेता की पोषक है तथा दूर तक चलती है। इससे विपरीत जो कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु के साथ दूर तक नहीं चलते हुए केवल एक प्रदेश पर्यन्त ही सीमित रहती है, उसे प्रकरी कहते हैं ''प्रकरी च प्रदेशभाक्।'' रामायण में ऐसे छोटे–छोटे अनेक कथानक प्राप्त होते हैं, जैसे शबरी, जटायु आदि के वृत्तान्त प्रकरी कहे जा सकते हैं। क्योंकि ये अवसर विशेष में ही प्रारम्भ व समाप्त हो जाती हैं। इस तरह कथावस्तु के सम्पूर्ण विभाजन को निम्नवत् समझा जा सकता है :–

इस प्रकार आपके समक्ष कथावस्तु के तीन भेद उपस्थित हैं = आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी। इन तीनों भेदों के उपजीव्य के आधार पर इनके पुनः तीन–तीन भेद कहे गए हैं =

> **''प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत् त्रिधा।।**
> **प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।**
> **मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।।'' (1/15–16)**

अर्थात् आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी नामक तीनों कथावस्तु के प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र नामक पुनः तीन–तीन भेद होते हैं। इनमें इतिहास व पुराणादि की प्रसिद्ध कथावस्तु प्रख्यात कथा होती है। कवि की कल्पना प्रसूत कथावस्तु को उत्पाद्य कथा कहते हैं। प्रख्यात व उत्पाद्य दोनों से मिलकर निर्मित कथावस्तु को मिश्र कथावस्तु

कहते हैं। प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र कथावस्तु के दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य नाम से पुनः तीन–तीन भेद होते हैं। इस प्रकार से कथावस्तु के 27 भेद होते हैं।

वर्णन की दृष्टि से कथावस्तु के भेद = कथावस्तु के पूर्वोक्त 27 भेदों के पश्चात् पुनः दो भेद कहे गए है = (i) दृश्य (ii) सूच्य। ये दोनों भेद कथावस्तु को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के आधार पर किए गए हैं। रंगमंच पर प्रदर्शित समस्त घटनाक्रम का प्रत्यक्ष द्रष्टा दर्शक होता है। किन्तु रंगमंच पर कथावस्तु की समस्त घटनाओं का यथावत् प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए कथावस्तु का पुनः वर्गीकरण करते हुए दशरूपक में लिखा है=

''द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्।।''

अर्थात् रचनाकार को नाटकादि रूपकों की निर्धारित कथावस्तु का दो प्रकार से विभाजन करना चाहिए। कथा के जिस भाग का रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जा सकता हो, उसे सूच्य कथावस्तु कहते हैं। दूसरा विभाजन दृश्यश्रव्य होता है। अर्थात् कथावस्तु का वह भाग, जिसको दर्शक रंगमंच पर देख भी सकते हैं और सुन भी सकते हैं। दशरूपक के अनुसार कथा का जो भाग नीरस हो तथा जिसका रंगमंच पर प्रदर्शन करना नैतिकता आदि की दृष्टि से अनुचित हो, सूच्य कथावस्तु है। इसके विपरीत कथा का जो भाग मधुर, उदात्त, रस और भावों से परिपूर्ण हो, दृश्यश्रव्य हैं। इसका प्रदर्शन नाटकादि में प्रभावोत्पादकता तथा रसमयता लाने के लिए आवश्यक होता है।

दृश्यश्रव्य कथावस्तु को नाटकादि के अंकों यथावसर प्रदर्शित करना चाहिए। सूच्य कथावस्तु को पुनः पाँच भेदों में विभाजित किया गया है, जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपक के पाँच भेद निम्नवत् हैं=

(i) विष्कम्भक (ii) चूलिका (iii) अंकास्य (iv) अंकावतार (v) प्रवेशक।,

इन पाँच अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से नाटकीय सूच्य कथावस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। इनका विस्तार से अध्ययन आप इकाई 16 के अन्तर्गत करेंगे।

नाट्यधर्म दृष्टि से कथावस्तु के भेद = नाट्यशास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन किया जाता है। वस्तुतः नाट्य लोकवृत्त का अनुकरणरूप होता है। जिस प्रकार लोक–व्यवहार में सभी बातें एक रूप से नहीं कही जाती हैं, उसी प्रकार नाट्य में भी कथानक के संवाद सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य तथा अश्राव्य के रूप में विभक्त होते हैं। इनका प्रयोग केवल–केवल अभिनय करने वाले पात्रों के आधार पर ही किया जाता है। दर्शकों को तो कथानक के सभी संवाद सुनाने होते हैं। यदि दर्शक इन संवादों को नहीं सुन सकेगा तो कथाप्रवाह बाधित हो जाएगा। इस तरह नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के निम्न तीन भेद होते हैं = (i) सर्वश्राव्य (ii) नियतश्राव्य (iii) अश्राव्य।

इनमें से प्रथम भेद सर्वश्राव्य का लक्षण है = ''सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।'' अर्थात् मंच पर उपस्थित सभी पात्रों को सुनाने योग्य कथावस्तु को सर्वश्राव्य अथवा प्रकाश कहा जाता है। सामान्य रूप से नाटकादि रूपकों के अधिकतर संवाद सर्वश्राव्य ही होते हैं। नियतश्राव्य तथा अश्राव्य के लिए नाटककार पृथक् से निर्देश देते हैं। सर्वश्राव्य कथावस्तु के लिए नाटककार को पृथक् से कोई निर्देश नहीं देना पडता है।

कथावस्तु का द्वितीय भेद नियतश्राव्य है। इसका लक्षण है = '' अश्राव्यं स्वगतं मतम्।।'' अर्थात् जो कथावस्तु मंच पर उपस्थित किसी भी पात्र को सुनाने योग्य न हो उसे अश्राव्य कहते हैं। नाटकादि में इसका प्रयोग 'स्वगतम्' या 'आत्मगतम्' इत्यादि निर्देश के साथ किया जाता है।

नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु की तृतीय भेद नियतश्राव्य है। कथावस्तु का वह भाग जो मंच पर उपस्थित पात्रों में से कतिपय निश्चित पात्रों को ही सुनाने के योग्य हो, उसे नियतश्राव्य कथावस्तु कहते है। नियतश्राव्य के दो भेद होते हैं = (i) जनान्तिक (ii) अपवारित।

नियतश्राव्य का प्रथम भेद जनान्तिक है। इसका व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ है = '' जनस्य अन्तिकम् इति जनान्तिकम्।।''

अर्थात् प्रियजन का सामीप्य होना जनाऩ्तिक है। दशरूपक में जनान्तिक का लक्षण है=

''त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।।''

अर्थात् जब मंच पर अन्य पात्रों के उपस्थित होने पर भी दो पात्र परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करें कि जिसे अन्य उपस्थित पात्रों को सुनाना अभीष्ट न हो तो त्रिपताका के द्वारा संकेत करके वे अन्य पात्रों तथा दर्शकों को संकेत देंगे कि उनका वारण किया जा रहा है। यहाँ त्रिपताका पद का अर्थ जानना आपके लिए आवश्यक है। जल मंचस्थ किसी पात्र से कोई बात छुपानी है, तो उसकी तरफ हाथ की समस्त अंगुलियां ऊँची करके अनामिका अंगुली को टेढ़ा रखते हुए अपनी बात कहना 'त्रिपताका' कहा गया है। इस प्रकार स मंच पर उपस्थित अन्य पात्रों का अपवारण कर वार्तालाप करना जनान्तिक है। इसमें वक्ता पात्र त्रिपताका के द्वारा अन्य पात्रों की उपेक्षा करते हुए केवल उसी पात्र की ओर उन्मुख रहता है, जिससे उसे वार्तालाप करनी है।

नियतश्राव्य का द्वितीय भेद अपवारित है। इसका तात्पर्य निगूहन है। अपवारित का लक्षण है = ''रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्।'' अर्थात् जब कोई पात्र मुंह को दूसरी ओर करके दूसरे पात्र की गुप्त बात कहता है तो उसे अपवारित कहते हैं।

14.4 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई के अन्तर्गत अपने आचार्य धनंजय द्वारा रचित दशरूपक के आलोक में दशरूपक ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक का स्वरूप व भेद, रूपकों के भेदक तत्व, कथावस्तु का स्वरूप तथा उसके भेदों का विस्तार से अध्ययन किया। यतोहि आचार्य भरत द्वारा लिखा गया नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्रीय समस्त विषयों का विस्तार से वर्णन है, जिसमें सामान्य बुद्धि वाले अध्येताओं को भ्रम हो सकता है। इस कारण आचार्य धनंजय ने नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक संबंधी सिद्धान्तों का संक्षिप्त तथा सर्वाङ्गीण विवेचन अपने दशरूपक ग्रन्थ में प्रस्तत किया है। जिससे पाठकों को आनन्द प्रदान करने वाले दस प्रकार के रूपकों के लक्षणों का ज्ञान एकत्र प्राप्त हो सके।

अवस्था का अनुकरण नाट्य है, जो दृश्यमान होने से रूप भी कहा जाता है। नट आदि पात्रों में राम–कृष्ण आदि की अवस्थाओं का आरोप होने से इस नाट्य अथवा रूप को रूपक भी कहा गया है। दशरूपक के अनुसार रूपक के नाटक, प्रकरण,

भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क तथा ईहामृग नामक दस भेद होते हैं। यद्यपि सभी में अवस्था का अनुकरण होने में सामान्यतया कोई भेद हमें दृष्टिगत नहीं होता है किन्तु कथावस्तु, नेता तथा रस भेद होते हैं। इसी कारण वस्तु, नेता तथा रस की भिन्नता होने के कारण रूपक के पृथक्–पृथक् दस रूपकों के भेदक तत्व के रूप में परिगणित हैं।

रूपक के भेदक तत्वों में आपने सर्वप्रथम वस्तु का परिचय इस इकाई के अन्तर्गत प्राप्त किया। वस्तु को रूपक का शरीर माना जाता है = '' इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।।'' वस्तु को कथा, इतिवृत्त, कथानक, कथावस्तु आदि नामों में भी जाना जाता है। कथावस्तु मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक। आधिकारिक वह मुख्य कथावस्तु होती है जो नायक की फलप्राप्ति पर्यन्त चलती है। इस आधिकारिक कथावस्तु के साथ में अंग रूप में जिन उपकथाओं की योजना की जाती है, वे प्रासङ्गिक कथावस्तु होती हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तु के पताका तथा प्रकरी नामक पुनः दो भेद कहे गए हैं। कथावस्तु के भेदों को आप इस उदाहरण से समझ सकते है कि रामायण में नायक राम की प्रधान कथा आधिकारिक कथावस्तु है, जो फलप्राप्ति पर्यन्त चलती है। इसमें सुग्रीव व शबरी आदि के वृत्तान्त प्रासङ्गिक कथावस्तु में परिगणित होते हैं। कथावस्तु प्रख्यात, उत्पाद्य व मिश्र के भेद से पुनः तीन प्रकार की होती है तथा ये तीनों भेद दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य के भेद से फिर तीन–तीन प्रकार के होते है। इस तरह कथावस्तु के कुल 27 भेद बताए गए हैं।

कथावस्तु के पूर्वोक्त 27 भेदों के पश्चात् पुनः दो भेद कहे गए है = (i) दृश्य (ii) सूच्य। ये दोनों भेद कथावस्तु को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के आधार पर किए गए हैं।दृश्यश्रव्य कथावस्तु को नाटकादि के अंकों यथावसर प्रदर्शित करना चाहिए। सूच्य कथावस्तु को पुनः पाँच भेदों में विभाजित किया गया है, जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। नाट्यशास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन किया जाता है।नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के निम्न तीन भेद होते हैं = (i) सर्वश्राव्य (ii) नियतश्राव्य (iii) अश्राव्य।इस प्रकार से कथावस्तु के अनेक भेद होते हैं।

14.5 शब्दावली

व्याकीर्णे = विस्तीर्ण

नाट्यम् = नट का भाव अथवा कर्म।

रूपम् = रूप्यते अभिनीयते इति रूपम्। जिनका अभिनय किया जाता है = नाटकादि।

रूपक = रूपम् एवं रूपकम्। रूपयति इति वा आरोपयति इति वा।

प्रासंगिकम् = प्रसंगात् निर्वृत्तम् = प्रसंग से होने वाला।

सानुबन्धम् = अनुबन्ध सहित

त्रिवर्गः = धर्म, अर्थ तथा काम पुरूषार्थ।

14.6 सहायक ग्रन्थ

धनंजय, दशरूपकम्, व्याख्याकार– डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001

1. धनंजय, दशरूपक, व्याख्याकार– डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।

2. भरत, नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती–सहितम्) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
3. भामह, काव्यालङ्कार, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
4. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. पृथ्वीराथ द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. श्रीहर्ष, रत्नावली नाटिका, साहित्य भण्डार, मेरठ।

14.7 बोध प्रश्न

1. दशरूपक का महत्व प्रदर्शित करते हुए उसके प्रयोजनों का वर्णन कीजिए।
2. रूपक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेद बताइये।
3. रूपक के भेदक तत्वों का विवेचन कीजिए।
4. कथावस्तु के भेदों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई 15 अर्थप्रकृतियाँ और कार्यावस्थायें

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप दशरूपक में वर्णित निम्न विषयों को जान सकेंगे –

- अपने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि कर सकेंगे।
- नाटकादि में प्रयोजन की सिद्धि के उपायभूत अर्थप्रकृति के स्वरूप को जान पाएंगे।
- अर्थप्रकृति के भेदों के सोदाहरण समझ सकेंगे।
- कार्यावस्था के स्वरूप को जान पाएंगे।
- कार्यावस्था के भेदों को सोदाहरण समझ सकेंगे।
- अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के महत्व तथा रूपकों में उनके प्रयोग को जान सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अन्तर्गत खण्ड संख्या=03 में निर्धारित दशरूपक से सम्बन्धित यह अग्रिम इकाई है। पूर्व की इकाई में आपने दश रूपक ग्रन्थ के प्रयोजन,

रूपक के भेद एवं भेदक तत्व, कथावस्तु तथा उनके भेद के विषय में अध्ययन कर चुके है। इस इकाई में आप क्रमानुसार प्राप्त अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का अध्ययन करेंगे।

नाटकादि रूपकों के तीन भेदक तत्वों में परिगणित कथावस्तु के बहिरंग विश्लेषण हेतु अर्थप्रकृतियों तथा अंतरंग विश्लेषण हेतु कार्यावस्तुओं का अनुशीलन आवश्यक होता है। वस्तुतः रूपक की कथावस्तु को किसी प्रख्यात उपजीव्य ग्रन्थ से ग्रहण करने पर भी कवि को रंगमंच की दृष्टि से मूल कथा में कलात्मकता, औत्सुक्य तथा प्रभावोत्पादकता का आधान करने के लिए उसमें परिवर्तन व परिवर्धन करने पडते हैं। इस प्रयोजन की सिद्धि हेतु उसे दशरूपक में प्रदर्शित मार्ग = अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा संधियों का अनुसरण करना आवश्यक है।

वस्तुतः कथावस्तु से साक्षात् सम्बन्धित होने के कारण समस्त कार्य व्यवहार के फल का अधिकारी नेता होता है। इस साध्य प्रयोजन की सिद्धि की हेतु अथवा उपाय अर्थप्रकृतियाँ होती हैं तथा फल की प्राप्ति के लिए नायक जिस कार्य–व्यापार का आश्रय लेता है, उसकी अवस्थाएं ही कार्यावस्थाएं कहीं गई हैं।

इन अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का क्या स्वरूप है? रूपकों में इनका क्या उपयोग है? इनके कितने भेद है? इत्यादि विषयों पर इस इकाई में हम चर्चा करेंगे।

15.2 अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाएं

जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते तथा विनश्यति आदि षड्भाव विकार की तरह ही कथावस्तु की भी विभिन्न अवस्थाएं होती हैं। आचार्य भरत के मतानुसार फल की प्राप्ति के लिए नायक के द्वारा किया जाने वाला उद्योग ही कार्यावस्था है। यह नेता के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास को भी प्रदर्शित करती हैं।

रूपकों में नेता के द्वारा साध्य फल की प्राप्ति करने के लिए जिस कार्य–व्यापार का प्रसार किया जाता है, उसे कार्यावस्था कहते हैं। ये कार्यावस्थाएं उसकी गतिविधि की सूचक कही जा सकती हैं। प्रत्येक नाटक में इनका विधान किया जाता है। कार्यावस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में कहा गया है–

> **''अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।**
> **आरम्भ–यत्न–प्राप्त्याशा–नियताप्ति–फलागमाः।। (1/19)**

अर्थात् रूपकों में फल की अभिलाषा रखने वाले नेता के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य–व्यापार की आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम नामक पाँच अवस्थाएं होती हैं।

उक्त पाँच कार्यावस्थाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता लोक के व्यवहार से प्रभावित रूपकों में मानव के जीवन की तरह नायक को भी निश्चित फल–प्राप्ति के लिए अनेक संघर्षों का सामना करना पडता है। नाटकीय घटनाक्रम में वह निर्बाध = सहज गति से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक नहीं पहुँचता है, अपितु एतदर्थ उसे आने वाले अवरोधों को समाप्त करना पडता है। यह संघर्ष नाटकों में औत्सुक्य उत्पन्न करने वाला महत्वपूर्ण कारक है। संघर्ष जितना गहन होगा वह रूपक भी उतना ही हृदयावर्ज तथा . प्रभावोत्पादक होगा। आप इसे महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल अथवा महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित की प्रसिद्धि का एक मुख्य कारण कह सकते हैं।

पात्रों की मानसिक वृत्तियों में दो या अधिक विरोधी विचारों का द्वन्द्व बाह्य घटनाओं के संघर्ष की अपेक्षा गहन या सूक्ष्म होता है। जहा मानसिक द्वन्द्व जितना सूक्ष्य होगा वहाँ रस का ग्रहण उतना ही अधिक होता जाएगा।

इसी तरह कथावस्तु के अभीष्ट लक्ष्य = फल की प्राप्ति तक जाने के लिए नाट्यकार द्वारा नाटकादि रूपकों में जो उपाय निबद्ध किए जाते हैं, उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। अर्थप्रकृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य धनिक ने अपनी वृत्ति में लिखा है =''अर्थप्रकृतयः प्रयोजन सिद्धि हेतवः।।'' अर्थात् अर्थप्रकृति से तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो प्रयोजन की सिद्धि के कारण होते हैं। वस्तुतः ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपादान कारण कही जा सकती हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध कथावस्तु के फल के साथ रहता है।

साधारण रूप से हम कह सकते हैं कि अर्थप्रकृति शब्द में अर्थ पद से तात्पर्य नाट्यार्थ है तथा प्रकृति पद से तात्पर्य उपाय है। इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ रूपक की कथावस्तु से संबंध रखती हैं। आप इसे नाटकादि कथानक का भौतिक विभाजन कह सकते हैं। इससे भिन्न कार्यावस्थाएं नेता की मानसिक दृष्टि से कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन हैं। अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के प्रयोजन की सिद्धि में कारण होती हैं। ये कथावस्तु के उन तत्वों में परिगणित की जाती है जो कथावस्तु को पूर्णता की तरफ ले जाती है। अभिनवगुप्त ने इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है – '' अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतव इत्यर्थः।। अर्थात अर्थप्रकृतियाँ नाटकादि दस रूपकों में नेता के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय होता है। रूपकों की स्वरूपाधायक इतिवृत में परिणामोत्पादकता, सम्बद्धता तथा प्रमाणबद्धता उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य अर्थप्रकृतियों के द्वारा सम्पादित किया जाता है। इन अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का महत्व इस दृष्टि से भी है कि नाटकादि में प्रयोग की जाने वाली मुख–प्रतिमुख–गर्भ–विमर्श–उपसंहति नामक सन्धियों का निर्माण भी इनके मेल से होता है। इनके अभाव में रूपकों की रचना सम्भव नहीं है। हम जितने भी नाटक आदि रूपकों को देखते या पढ़ते हैं। इनकी उपस्थिति से ही प्रभावशाली तथा हृदयावर्जक होते हैं। इस प्रकार रूपकों में इन दोनों का अत्यधिक महत्त्व है।

15.3 अर्थप्रकृतियों के भेद

अर्थप्रकृति के स्वरूप का अध्ययन आप कर चुके हैं। अब हम इनके भेदों का अध्ययन करेंगे। अर्थप्रकृति को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। दशरूपक में अर्थप्रकृतियों के भेदों का उल्लेख निम्न कारिका में किया गया है =

''बीज बिन्दु पताकाख्य प्रकरी कार्य लक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिताः।। (1/18)

अर्थात् बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक अर्थप्रकृतियों के पाँच भेद होते हैं। अब आप इन पाँचों भेदों के लक्षण और उदाहरणों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

15.3.1 बीज

जिस प्रकार आप भौतिक जगत में एक सामान्य छोटे से बीज से विशाल वृक्ष एवं उस वृक्ष में फल की उत्पत्ति देखते हैं। उसी प्रकार नाट्यशास्त्र में बीज अर्थप्रकृति की स्थिति होती है। जैसे बीज में फल छिपा रहता है, वैसे ही बीज नामक अर्थप्रकृति में

रूपक का फल अन्तर्निहित होता है। बीज का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में कहा गया है–

''स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।। (1/17)

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्।।''

अर्थात् नाटकादि रूपकों के प्रारम्भ में स्वल्प रूप में सङ्केतित वह तत्व, जो फल का हेतु होता है तथा अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है, वह बीज कहा जाता है। इस बीज का कथन पहले संक्षेप में किया जाता है, बिल्कुल उसी तरह जिस प्रकार भूमि में सूक्ष्म बीज का वपन किया जाता है। रूपक में जैसे–जैसे कार्य–व्यापार आगे बढ़ता है, वैसे–वैसे यह बीज विस्तार को प्राप्त करता है। आप इसे इस तरह भी समझ सकते है कि जैसे भौतिक जगत में बीज के बिना फल की प्राप्ति असम्भव है, वैसे ही नाटकादि रूपकों में बीज अर्थप्रकृति के अभाव में फल की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती है। बीज का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दशरूपक में उल्लिखित है =

''यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलकदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः = यौगन्धरायणः= कः सन्देहः (द्वीपादन्यस्मात्,,,, इति पठति), इत्यादिना प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धि हेतौ इत्यन्तेन। यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति।।''

यहाँ बीज को दो उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। प्रथम उदाहरण रत्नावली नाटिका का है। रत्नावली नाटिका में कथावस्तु का कार्य नायक उदयन व रत्नावली का मिलन कराना है। रत्नावली के विष्कम्भक में मन्त्री यौगन्धरायण की इस कार्य को पूर्ण कराने की चेष्टा जिसे भाग्य की सहायता भी प्राप्त है, बीज रूप में उपस्थापित की गई है। मन्त्री यौगन्धरायण ''क्या सन्देह है?'' यह कहते हुए ''अनुकूल हुआ भाग्य अभिलिषित वस्तु को अन्य द्वीप से, समुद्र के मध्य से तथा दिशाओं के अन्त से अर्थात् कहीं से भी लाकर प्राप्त करा देता है।'' इस कथन को ''द्वीपादन्यस्मादपि......'' इस श्लोक से लेकर ''प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो.......,'' अर्थात् ''अपने राजा की उन्नति के कार्य को प्रारम्भ कर भाग्य के अनुकूल रहने पर मैं अपने इस कार्य में सफलता प्रारम्भ करूंगा, इस कथन तक नाटिका में बीज अर्थप्रकृति का उपस्थापन किया गया है। इसी पर वत्सराज उदयन को सागरिका की प्राप्ति होना निर्भर है।

एक अन्य उदाहरण के रूप में आप वेणीसंहार नाटक का अवलोकन कर सकते हैं। इस प्रख्यात नाटक का प्रयोजन द्रौपदी का केश–संयमन है। नाटक के प्रारम्भ में भीम के कथन ''स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः.....,'' से आरम्भ करके ''क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरूवने यौधिष्ठिरं जम्भते।'' पर्यन्त बीज अर्थप्रकृति की रूपरेखा ही सन्निहित है। यहाँ भीम के क्रोधावेग से परिपुष्ट युधिष्ठिर का युद्धोत्साह द्रौपदी के खुले हुए केशों के संयमन का निदान है, जिसकी बीज के रूप में नाटककार के द्वारा योजना की गई।

15.3.2 बिन्दु

अर्थप्रकृतियों में दूसरा क्रम बिन्दु अर्थप्रकृति का है। ''बिन्दुरिव बिन्दुः'' अर्थात् बिन्दु अर्थप्रकृति सामान्य जल या तैल आदि के बिन्दु के समान होती है। आचार्य धनिक ने अवलोकवृत्ति में ''बिन्दुः जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वात्'' अर्थात् जल में तैल बिन्दु के सदृश इसका प्रसार नाटकादि में बताया है। आपने देखा होगा कि जिस प्रकार जल से भरे पात्र में तैल की एक बिन्दु गिराने पर वह किस प्रकार उस जल की सतह के

ऊपर फैल जाती है। बिल्कुल उसी प्रकार बिन्दु अर्थप्रकृति की रूपक में स्थिति रहती है।बिन्दु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में उल्लेख है =

''अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छदकारणम्।।

यथा रत्नावल्यामवान्तर प्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतु = उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका (श्रुत्वा) = कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि।।''

अर्थात् किसी अन्य कथा = अर्थ से विच्छिन्न होने पर कथावस्तु को पुनः जोडने का कारण बिन्दु कहा जाता है। यह अच्छेद का कारण बिन्दु कथावस्तु में आगे जाकर उसी प्रकार प्रसारित होता है, जैसे आप जल में तैल के बिन्दु को फैला हुआ देखते हैं।

वस्तुतः नाटकादि में जब कथावस्तु का प्रवाह अभीष्ट दिशा से अलग अन्य दिशा में परिवर्तित होने लगता है, तब कुशल रचनाकार नायक, नायिका अथवा अन्य पात्रों की सहायता से उसे अपेक्षित दिशा में ले जाने का प्रयत्न करता है। इस स्थिति में जो प्रसंग कारण बनकर बीज की भंग होती कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होता है, उसे बिन्दु कहते है।

बिन्दु अर्थप्रकृति को आप रत्नावली नाटिका के एक उदाहरण से समझ सकते हैं। रत्नावली नाटिका में महारानी वासवदत्ता के द्वारा कामदेव की पूजा करना एक अवान्तर कथावृत्त है। इसके उपरान्त कथा में विश्रृंखला आ जाती है तथा एक अर्थ समाप्त हुआ प्रतीत होता है। इसे पुनः श्रृंखलाबद्ध अथवा संश्लिष्ट करने के लिए बिन्दु का विधान किया जाता है। ''अस्तापास्त समस्तभासि.........उदयनस्येदोरिवोद्वीक्षते।'' इस उक्ति के श्रवण से रत्नावली, जो सागरिका के रूप में वत्सराज उदयन के यहाँ रह रही थी, के द्वारा ''कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता'' अर्थात् क्या ये वही राजा उदयन हैं, जिनके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है? इस कथन से विच्छिन्न होती हुई कथा का सन्धान करा दिया गया। रत्नावली का यह प्रसंग विच्छेद का निराकरण कर, कथावस्तु को आगे की कडी से जोडने का निमित्त है। जो नाटिका की समाप्ति पर्यन्त विद्यमान दिखाई देता है। इसे हम बिन्दु कह सकते हैं।

15.3.3 पताका

अर्थप्रकृतियों में तृतीय स्थान पर पताका की गणना होती है। आपने पूर्व में वस्तु के भेदों के अन्तर्गत पताका के विषय में अध्ययन किया है। कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो भेदों में से प्रासङ्गिक कथावस्तु के पुनः दो भेद होते हैं, जिसमें एक पताका है।

पताका नाट्य की कथावस्तु का वह उपकथानक होता है, जिसका नेता आधिकारिक कथावस्तु के मुख्य नेता को सहयोग प्रदान करते हुए स्वयं के लक्ष्य की प्राप्ति भी कर लेता है। पताका का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में निर्दिष्ट है=

''सानुबन्धं पताकाख्यम्........................।

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्, पताकेवासाधारणनायक–चिह्नवत् तदुपकारित्वात्।''

अर्थात् अनुबन्ध से युक्त जो प्रासङ्गिक कथावस्तु नाटिकादि में दूर तक चलती है, उसे पताका कहते है। यह नायक के पताकाचिह्न की तरह मुख्य कथावस्तु तथा नायक की पोषक होती है। पताका अर्थप्रकृति को आप रामायण के उदाहरण से समझ सकते हैं। रामायण में नायक राम की आधिकारिक कथावस्तु मुख्य है। इस कथावस्तु में सुग्रीव की कथा पताका कही जा सकती है। यह कथा मुख्य नायक को फल–प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हुए दूर तक साथ में चलती है। इसी तरह आप रामायण से ही विभीषण के वृत्तान्त का ग्रहण कर सकते हैं, जो आधिकारिक कथा तथा नायक राम की पोषक है।

15.3.4 प्रकरी

चतुर्थ अर्थप्रकृति प्रकरी है। पताका के समान आपने पूर्व में वस्तु के भेदों के अन्तर्गत इसका अध्ययन किया है। यह प्रासङ्गिक कथावस्तु के दो भेदों में से एक है। पताका अनुबन्ध से युक्त होती है किन्तु प्रकरी अनुबन्ध से हीन होती है। इसका उद्देश्य भी पताका की तरह आधिकारिक कथावस्तु को सहायता देना है। **''प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी''** अर्थात् जिस कथावस्तु में फल की प्राप्ति आधिकारिक कथा के नायक की अपेक्षा अथवा सहयोग लिए बिना होती है वह प्रकरी है, प्रकरी का लक्षण दशरूपक में निम्नवत् है–

''प्रकरी च प्रदेशभाक्।।''

अर्थात् जो कथा एक प्रदेश तक ही सीमित रहती है उसे प्रकरी कहते हैं। यह पताका अर्थप्रकृति की तरह अधिक दूर तक नहीं अपितु थोडी दूर तक ही चलती है। इसकी कथा स्वार्थ–निरपेक्ष रहती है। इसका कथानक रूपक में प्रदेशभाक्= एक ही स्थान पर रखा जाता है तथा उसी स्थान पर उसकी समाप्ति भी हो जाती है। मुख्य रूप से पताका और प्रकरी में यही अन्तर है। प्रकरी को आप रामायण के शबरी वृत्तान्त के उदाहरण से समझ सकते है। भगवान राम के वनवास काल में शबरी का कथानक प्रारम्भ होता है तथा वहीं समाप्त हो जाता है। शबरी की कथा सुग्रीव अथवा विभीषण के वृत्तान्त की तरह दूर तक नहीं चलती है। इन उदाहरणों से आप पताका और प्रकरी में वैषम्य को समझ सकते है।

15.3.5 कार्य

अर्थप्रकृतियों में पाँचवी तथा अन्तिम अर्थप्रकृति कार्य है। इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है=''कार्यते फलमिति कार्यम्''। कार्यवस्तु की सफलता के लिए रूपकों में कार्य नामक अर्थप्रकृति की योजना आवश्यक होती है। इसका स्वरूप बताते हुए दशरूपक में उल्लेख है =

''कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।
धर्मार्थकामाः फलं तच्च षुद्धमेकैकानुबन्धि च।।''

अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम यह त्रिवर्ग कार्य = फल है। यह इन धर्म, अर्थ तथा काम में से कभी एक भी हो सकता है, कभी इनमें से कोई दो अथवा ये तीनों भी हो सकते है। तात्पर्य यह है कि कथावस्तु में कार्य अर्थप्रकृति वह होती है जहाँ नायक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जिस साध्य की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है, जो नाटकादि रूपकों में फल होता है, वही कार्य अर्थप्रकृति होती है।

15.4 कार्यावस्थाओं के भेद

अर्थप्रकृतियों के अध्ययन के पश्चात् अब क्रमानुसार प्राप्त कार्यावस्थाओं का अध्ययन किया जाएगा। कार्यावस्थाओं के स्वरूप से आप परिचित हो चुके हैं। आगे हम कार्यावस्था के भेदों की चर्चा करेंगे। दशरूपक में कार्यावस्था के भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है =

> **''अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।**
> **आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः।।'' (1/19)**

अर्थात् फलार्थी नेता के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाए होती हैं– 1. आरम्भ 2. यत्न 3. प्राप्त्याशा 4. नियताप्ति 5. फलागम। वस्तुतः कार्य की सिद्धि हेतु नेता की प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक चित्र इस अवस्थापंचक से स्वरूप प्राप्त करता है। अब हम क्रमशः इन पाँचों कार्यावस्थाओं के स्वरूप का उदाहरणों सहित अध्ययन करेंगे।

15.4.1 आरम्भ

रूपकों में कथा का प्रारम्भ आरम्भ अवस्था है। कथावस्तु के प्रारम्भ में जहाँ बीज के औत्सुक्य का क्रियान्वयन किया जाता है, उस स्थिति को आरम्भ कहते हैं। दशरूपक में आरम्भ का स्वरूप बताते हुए कहा गया है–

> **'' औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।।**

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते। यथा रत्नावल्याम्= प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवो चेत्यं दत्तहस्तावलम्बे। इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भा यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः।।''

अर्थात् नायकादि पात्रों में अत्यन्त फललाभ की उत्सुकता का उत्पन्न होना आरम्भ अवस्था है। नाटकादि के प्रारम्भ में नायकादि के मन में यह उत्सुकता उत्पन्न हो कि मैं इस कार्य को करूँ,'' इस उत्सुकता मात्र को ही आरम्भ कहा जाता है। इसमें फल की प्राप्ति की चेष्टा करना सम्मिलित नहीं है, क्योंकि के लाभ के लिए चेष्टा करना पृथक् अवस्था है, जिसे आगे 'यत्न' नाम्ना अभिहित किया गया है। इस कार्यावस्था को सरल रूप से समझाने के लिए आचार्य धनिक ने अपनी अवलोक टीका में 'रत्नावली' नाटिका का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जहाँ वत्स देश के मन्त्री यौगन्धरायण ने ''प्रारम्भेऽस्मिन् स्वाभिनो वृद्धिहेतौ......'' अर्थात् अपने स्वामी= राजा की उन्नति के लिए किए गए तथा भाग्य के द्वारा सहारा दिए गए इस कार्य में......'' इत्यादि कथन के द्वारा कार्यारम्भ की सूचना देते हुए फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता प्रदर्शित की है। यहाँ फलप्राप्त्यर्थ मन्त्री यौगन्धरायण की यह उत्सुकता ही आरम्भ कार्यावस्था की सूचक है।

15.4.2 यत्न

आरम्भ के पश्चात् द्वितीय कार्यावस्था यत्न है। नाटकादि में फल प्राप्ति की उत्सुकता उत्पन्न होने के पश्चात् योजनायुक्त कार्य–व्यापार में प्रवृत्त होना द्वितीय कार्यावस्था 'यत्न' है। आप इसे प्रथम कार्यावस्था 'आरम्भ' की उत्तरावस्था भी कह सकते है। दशरूपक में यत्न कार्यावस्था का लक्षण निर्देशित करते हुए कहा गया है=

''प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारो·तित्वरान्वितः।।

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः। यथा रत्नावल्यामालेख्या–भिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः = तहावि णात्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा–तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्। (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा–तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि) इत्यादिना प्रतिपादितः।।''

अर्थात् नाटकादि रूपकों की कथावस्तु में अपेक्षित फल की प्राप्ति न होने पर, उसे प्राप्त करने के लिए अत्यधिक शीघ्रता के साथ कार्य–व्यापार में प्रवृत्त होना अथवा चेष्टा करना यत्न नामक कार्यावस्था है। इस कार्यावस्था में नायक या नायिका अपने अभिलषित फल की प्राप्ति के लिए संलग्न हो जाते हैं। जिस प्रकार रत्नावली नाटिका में सागरिका का चित्रलेखन रूपी कार्य में यह कहते हुए प्रवृत्त होना कि वत्सराज उदयन को देखने का और कोई उपाय नहीं है, पुनरपि जैसे–तैसे उनका चित्र बनाकर ही अपनी इच्छा पूर्ण करती हूँ। इस कथन के द्वारा रत्नावली नाटिका में यत्न अर्थप्रकृति की योजना नाटककार के द्वारा की है। क्योंकि नायिका रत्नावली, जो नाटिका में सागरिका बनकर वत्सराज के अन्तःपुर में छिपकर रह रही है, उसका तथा उदयन का मिलन ही नाटिका का फल है। रत्नावली उदयन को प्रेम करती है व उसे पाना चाहती है। एतदर्थ वह योजना बनाकर चित्रालेखन कार्य में प्रवृत्त होती है। इसके अतिरिक्त 'रामचरित' में समुद्रबन्धन आदि कार्य में प्रवृत्त होना भी यत्न कार्यावस्था का उदाहरण है।

15.4.3 प्राप्त्याशा

कार्यावस्थाओं में तृतीय स्थान पर 'प्रप्त्याशा' का क्रम है। सामान्यरूप से यह अवस्था नायक के अन्तर्द्वन्द्व तथा बहिर्द्वन्द्व की परिचायक कही जा सकती है। यह द्वन्द्व ही रूपकों में कौतुहल का आधायक होता है। सरल शब्दों में हम कह सकते है कि इस कार्यावस्था में इच्छित फल को पाने की आशा उत्पन्न होती है, किन्तु साथ में विफलता का संशय भी बना रहता है। दशरूपक में प्राप्त्याशा का लक्षण बताते हुए कह गया है=

''उपायापायशंकाकभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः।।''

'' उपायस्यापायशंकाकयाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीये·ङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासदत्तालक्षणापायशंकायाः= एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता। (एवं यद्यकालवातावलीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता) इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।।''

अर्थात् जहाँ उपाय तथा अपाय= विघ्न की आशंका समुपस्थित होने के कारण नायक आदि को अभिलषित फल की प्राप्ति होने के विषय में ऐकान्तिक निश्चय नहीं दिखता है, वहाँ प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था होती है। इसमें फलप्राप्ति की सम्भावना उपाय तथा विघ्नाशंका दोनों के मध्य दोलायमान सी रहती है। नायक का मन द्वन्द्व से आशिङ्कत रहता है। वह फलालाभार्थ अपने उपायों का क्रियान्वयन तो कर देता है, किन्तु विघ्न समुपस्थित होने के कारण सफलता को लेकर पूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं रहता है। यह स्थिति नाटक आदि में कौतुहल तथा रोमांच उत्पन्न करती है। संघर्षजन्य यह कौतुहल व रोमांच ही नाटकादि का प्राण है। उदाहरण स्वरूप रत्नावली

नाटिका के तृतीय अङ्क में नायिका रत्नावली महारानी वासवदत्ता का वेष धारण कर वत्सराज उदयन से अभिसार रूप सङ्गम के उपाय होने पर भी विदूषक के ''यदि अकाल वायु की तरह आकर वासवदत्ता दूसरी ओर न ले जाए'' इत्यादि कथन के द्वारा वासवदत्ता जन्य विघ्न की आशंका होने से फलप्राप्ति के प्रति आशङ्कित हो जाती है। इस उदाहरण में नायिका रत्नावली को नायक उदयन की प्राप्ति के उपाय तथा अपाय = विघ्न दोनों का चित्रण होने से प्राप्त्याशा कार्यावस्था की स्पष्ट प्रतीति होती है। इसे आप महाकवि कालिदास के द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तल के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में नायक दुष्यन्त तथा नायिका शकुन्तला के मिलन रूपी फल में दुर्वासा ऋषि का शाप विघ्न बन जाता है। पुनः चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में उनके क्रोध के शान्त होने से प्राप्त्याशा की स्थिति बनती है। इस प्रकार नाटकादि में कवि के द्वारा कुशलता पूर्वक प्राप्त्याशा कार्यावस्था की योजना की जाती है।

15.4.4 नियताप्ति

कार्यावस्थाओं में चतुर्थ क्रम में आप नियताप्ति का अध्ययन करेंगे। विगत प्राप्त्याशा कार्यावस्था में जहाँ फल की प्राप्ति को लेकर नायकादि के मन में अनिश्चय की भावना रहती है, उससे विपरीत इस कार्यावस्था में फल की समुपलब्धि निश्चित् हो जाती है। दशरूपक में नियताप्ति का लक्षण निम्नवत् उल्लिखित है=

''अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।।

अपायाभावदवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम् = सागरिका दुक्करं जीविस्सदि, (सागरिका दुष्करं जीविष्यति।) इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि? (किं नोपायं चिन्तयसि?) इत्यनन्तरं 'राजा = वयस्य! देवीप्रसदनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि। इत्यनन्तरांकार्थ – बिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।।''

अर्थात् प्राप्त्याशा के पश्चात् जब विघ्न का अभाव होने के कारण नायकादि को फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाए, तब नियताप्ति कार्यावस्था होती है। विगत कार्यावस्था प्राप्त्याशा में आपने देखा है कि उपाय व अपाय के कारण नायक फलप्राप्ति के लेकर सशङ्कित रहता है। किन्तु इस कार्यावस्था में विघ्नों का शमन होने से उसके मन में यह निश्चय हो जात है कि फल की प्राप्ति अवश्य होगी। इसमें फल की प्राप्ति को लेकर नायक के मन में द्वन्द्व की स्थिति नहीं रहती है। जिस प्रकार रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में नायिका रत्नावली को तहखाने में बन्दी बनाए जाने पर विदूषक विचारपूर्वक कहता है कि रत्नावली बहुत कठिनाई से जीवन व्यतीत कर पाएगी। इसके पश्चात् वह राजा उदयन से प्रश्न करता है कि =हे मित्र! आप उसके लिए कोई उपाय क्यों नहीं सोचते? तब राजा कहता है कि = मित्र! अब देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई अन्य उपाय दृष्टिगत नहीं हो रहा है। इस प्रकार महारानी वासवदत्ता के प्रसादन रूपी उपाय के द्वारा रत्नावली की मुक्ति होने से विघ्नों की निवृत्ति में फलप्राप्ति का निश्चय होता है। यहाँ नाटिकाकार के द्वारा नियताप्ति कार्यावस्था की कुशलतापूर्वक योजना की गई है।

15.4.5 फलागम

अन्तिम कार्यावस्था का नाम फलागम अथवा फलयोग है। जैसे कि आपको नाम से ही स्पष्ट हो रहा है कि इस अन्तिम कार्यावस्था में नायक को फल का आगम= प्राप्ति सुश्चित हो जाती है। इसका लक्षण निबद्ध करते हुए दशरूपक में लिखा है=

''समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।।
यथा रत्नावल्यां रत्नवलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।।''

अर्थात् नाटकादि में समस्त फल की प्राप्ति हो जाना फलयोग= फलागम कहा जाता है। इस लक्षण में फल–प्राप्ति के साथ प्रयुक्त 'समग्र' पद विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यदि नाटकादि में असमग्र= अपूर्ण फल की प्राप्ति होती हो तब फल योग कार्यावस्था नहीं मानी जाती है। ऐसी स्थिति में उसे नियताप्ति कार्यावस्था में ही परिगणित किया जाएगा। नाटक के अन्त में जब नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है, तब ही उसे फलागम कार्यावस्था कहा जा सकता है। जैसे कि रत्नावली नाटिका के अन्त में नाटिका के नायक वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति तथा उसके फलस्वरूप चक्रकर्तित्व का लाभ होना फलागम की योजना है। क्योंकि इसके पश्चात् नायक को कुछ अन्य फल प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। अतः इस स्थिति को ही समग्र फल की प्राप्ति का उदाहरण माना जा सकता है।

15.5 सारांश

इस इकाई में आपने दशरूपक में वर्णित अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का विस्तार से अध्ययन किया है। रूपक की आधारभूत कथावस्तु में सम्बद्धता तथा परिणामकारकता उत्पन्न करने के लिए प्रयोजन की सिद्धि की कारणभूत= बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों की योजना नाटकादि में की जाती है। वस्तुतः ये कथावस्तु को अभीष्ट लक्ष्य पर्यन्त ले जाने के लिए कवि के द्वारा निबद्ध उपाय हैं। सम्पूर्ण नाटकीय इतिवृत्त इन पाँच अर्थप्रकृतियों में विभक्त होता है। बीज, वृक्ष के बीज के समान वह तत्त्व है, जो नायक को फल की तरफ बढ़ाता है। बिन्दु वह स्थिति है, ज बवह पानी में तैल के बिन्दु की तरह फैलता है। पताका व प्रकरी फल की प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा कार्य साध्य होता है।

अर्थप्रकृतियों के साथ–साथ रूपकों में कार्यावस्थाओं का भी समान महत्व है। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में जायते, अस्ति, विपरिणमते आदि अवस्थाएं होती हैं, उसी प्रकार रूपकों में नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य–व्यापार की भी आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम नामक पाँच कार्यावस्थाएं होती हैं। कार्यावस्थाओं के विस्तृत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लोकजीवन से प्रभावित नाटकादि रूपकों में रस तथा रोमांच उत्पन्न करने के लिए इन कार्यावस्थाओं की कुशलतापूर्वक योजना कवि के द्वारा की जाती है।

वस्तुतः नाटकादि में कथावस्तु का प्रवाह सरल व निबोध रूप से नहीं चलता है। उसमें नायकादि को फलप्राप्त्यर्थ आशङ्ाकओं व विघ्नों से संघर्ष करना पडता है। यह संघर्ष जितना गहन होगा रूपक भी उतना ही हृदयवर्जक होगा। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि को दशरूपक ग्रन्थ में प्रदर्शित अर्थप्रकृति तथा कार्यावस्था के पथ रूपी मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

15.6 शब्दावली

सानुबन्धम् – अनुबन्ध के साथ। दूर तक साथ चलना अथवा फल।

त्रिवर्गः – धर्म, अर्थ तथा काम।

अर्थप्रकृतिः – अर्थः फलं तस्य प्रकृतिः उपायः इति अर्थप्रकृतिः, अर्थात् फल की सिद्धि का उपाय।

प्रासङ्गिकम् – प्रसङ्गात् निर्वत्तम = प्रासङ्गिकम्। प्रसङ्ग से होने वाला।

प्रदेशभाक् – एक प्रदेश में रहने वाली।

15.7 सहायक ग्रन्थ

1. धनंजय, दशरूपकम्, व्याख्याकार– डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
2. धनंजय, दशरूपक, व्याख्याकार– डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।
3. भरत, नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती–सहितम्) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
4. भामह, काव्यालङ्कार, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
5. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. पृथ्वीराथ द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. श्रीहर्ष, रत्नावली नाटिका, साहित्य भण्डार, मेरठ।

15.8 बोध प्रश्न

क) अर्थप्रकृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का भी वर्णन कीजिए।

ख) कार्यावस्था के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

ग) कार्यावस्थाओं के भेदों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

घ) रूपकों में अर्थप्रकृति की उपयोगिता का प्रतिपादन कीजिए।

ङ) कार्यावस्था के महत्व का उल्लेख कीजिए।

इकाई 16 सन्धियाँ एवं अर्थोपक्षेपक

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप आचार्य धनंजय द्वारा रचित दशरूपक में वर्णित–

- नाट्यशास्त्रीय तत्वों को समझ सकेंगे।
- रूपकों में प्रयुक्त होने वाली सन्धि के स्वरूप को जान सकेंगे।
- सन्धि के भेदों का सोदाहरण अध्ययन कर सकेंगे।
- अर्थोपक्षेपकों के स्वरूप तथा भेदों को सोदाहरण समझ सकेंगे।
- रूपकों में सन्धियों तथा अर्थोपक्षेपकों के प्रयोग को जान सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

दशरूपक के अन्तर्गत इस इकाई में आप सन्धियों तथा अर्थोपक्षेपकों का अध्ययन करेंगे। रूपकों में इन दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी रूपक की रचना इनकी योजना के बिना असम्भव है। यहाँ सन्धि से तात्पर्य व्याकरण में प्रयोग की जाने वाली दीर्घ, वृद्धि, यण आदि सन्धियाँ नहीं है। यहाँ नाट्य की कथा को सुव्यवस्थित रखने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली मुख–प्रतिमुख आदि सन्धियों की चर्चा मात्र अपेक्षित है। वस्तुतः किसी भी नाटकादि रूपक का इतिवृत्त उसका शरीर होता है। पाँच सन्धियाँ इसका विभाग कही जा सकती हैं। सन्धियों की तरह सूच्य कथावस्तु को पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा नाटकादि रूपकों में प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः रचनाकार को अपनी कथावस्तु उपलब्ध संसाधनों के द्वारा सीमित समयावधि में प्रदर्शित करनी होती है। कथावस्तु के समस्त प्रसङ्ग सरस एवं दर्शनीय नहीं होते हैं किन्तु यदि

नाटककार ऐसे प्रसङ्गों का पूर्णतया परित्याग करते हुए अर्थात् उन कथाओं या प्रसङ्गों को छोड़कर आगे बढ़ जाएगा, तो दर्शक कथावस्तु को समझ नहीं सकेगा। जिस कारण आचार्यों ने अर्थोपक्षेपकों की योजना करने का विधान किया है। कुशल नाटककार कथावस्तु के सरस और दर्शनीय प्रसङ्गों की रंगमंच पर प्रदर्शन करता है तथा नीरस व अनुचित प्रसङ्गों को अर्थोपक्षेपकों के माध्यम में यथावसर सूचित कर देता है। इस प्रकार आप इन का महत्त्व समझ सकते हैं। रूपकों में अर्थोपक्षेपकों की योजना क्यों आवश्यक है? अर्थोपक्षेपक कितने प्रकार के होते है? नाटकादि में सन्धियों की क्या उपादेयता है? सन्धियाँ कितनी होती हैं? इत्यादि आपकी जिज्ञासाओं का समाधान हम इस इकाई के अन्तर्गत सोदाहरण करेंगे।

16.2 सन्धि का स्वरूपनाट्य

संरचना में सन्धि का विशेष महत्व है। सन्धि का अर्थ होता है= दो वस्तुओं का मिलना या जुडना। ''वर्णसन्धानं सन्धिः'' अर्थात् दो वर्णों के मेल को सन्धि कहते हैं। सामान्यतया सन्धि शब्द व्याकरण शास्त्र में प्रयुक्त होने वाली दीर्घ–वृद्धि–गुण आदि सन्धियों के लिए प्रसिद्ध है किन्तु नाट्यशास्त्र में सन्धि शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। आचार्य भरतमुनि के मतानुसार सन्धियाँ कथावस्तु रूपी शरीर के पाँच विभाग हैं। जिस प्रकार मानव–शरीर के भिन्न–भिन्न भाग आपस में सन्धियों से जुडे होते हैं। उसी प्रकार नाटक आदि में किसी कथावस्तु का अवान्तर कथांश से जुडना भी सन्धि ही कहलाता है। दशरूपक में सन्धि का लक्षण बताते हुए उल्लेख हुए =

''अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।

अर्थप्रकृतीनां पंचानां यथासंख्येनावस्थाभिः पंचभिर्योगात् यथासंख्येनैव वक्ष्यमाणा पंच संधयो जायन्ते।

संधिसामान्यलक्षणमाह=

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति।
एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरेकप्रयोजनसंबन्धः सन्धिः।।''

अर्थात् बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियाँ जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम नामक पाँच कार्यावस्थाओं से मिलती हैं, तब क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहति नामक पाँच सन्धियाँ बनती हैं। इसे हम निम्नवत् भी समझ सकते हैं =

अर्थप्रकृति	+	कार्यावस्था	=	सन्धि
बीज	+	आरम्भ	=	मुख
बिन्दु	+	यत्न	=	प्रतिमुख
पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भ
प्रकरी	+	नियताप्ति	=	अवमर्श
कार्य	+	फलागम	=	उपसंहति

इस प्रकार अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के यथासंख्य= क्रमानुसारी मिश्रण से सन्धियों का निर्माण होता है। अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का उदाहरण–सहित

अध्ययन आपने पूर्व में किया है। क्रमशः पाँच अर्थप्रकृतियाँ उसी क्रमानुसार पाँच कार्यावस्थाओं से मिलती हैं तब पाँच सन्धियों की रचना होती है। आगे सन्धि के सामान्य लक्षण बताते हुए कहा गया है कि किसी एक प्रयोजन के कारण परस्पर संबद्ध कथा–भागों को किसी अन्य एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाना सन्धि है। एक तरफ कथा–भागों का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से है, दूसरी तरफ कार्यावस्था के रूप में फलागम से दोनों को जोड़ने से सन्धि होती है। नाटकादि में इनकी योजना आवश्यक होती है।

16.3 सन्धि के भेद

आपने पूर्व में पढ़ा है कि सन्धि पाँच प्रकार की होती है। सन्धि के भेद बताते हुए कहा गया है =

''मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहतिः।।''

सन्धि के पाँच भेद निम्नवत् हैं =

(i) मुखसन्धि (ii) प्रतिमुख सन्धि (iii) गर्भ सन्धि (iv) अवमर्श सन्धि तथा (v) उपसंह्रति सन्धि। आगे आप इन पाँचों भेदों का सोदाहरण अध्ययन करेंगे।

16.3.1 मुख सन्धि

सन्धि के भेदों में प्रथम भेद है मुख सन्धि। नाट्य–कथा में इसका क्षेत्र बीज के वर्णन से प्रारम्भ हो कर बीजाङ्कुर होने तक है। यथा मानव शरीर में मुख की प्रमुखता होती है तथा वह शरीर के अन्य अंगों की क्रियाओं का कारण होता है, तथैव नाट्य रूपी शरीर में मुख–सन्धि की प्रमुखता होती है। यह नाट्य की प्रारम्भ अवस्था होने के कारण अन्य नाट्यावयवों का कारणभूत भी है। मुखसन्धि का लक्षण बताते हुए दशरूपक में उल्लेख है =

''मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।।

अर्थात् मुख्य सन्धि वह है जिसमें अनेक प्रकार के रसों को उत्पन्न करने वाली बीज की उत्पत्ति प्रस्तुत होती है। बीज के प्रारम्भ के लिए प्रयुक्त होने के कारण से इसके बारह अङ्ग होते हैं। मुखसन्धि के उदाहरण के रूप में आप रत्नावली नाटिका के प्रथम अङ्क की अर्थराशि का ग्रहण कर सकते हैं। मुख सन्धि का निर्माण बीज अर्थप्रकृति तथा आरम्भ कार्यावस्था के योग से होता है। इस सन्धि में ही रूपक के बीज का विधान किया जाता है। मुख सन्धि के अंगों अथवा भेदों का निरूपण करते हुए दशरूपक में उल्लेख है=

''उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम्।।''

बीज के आरम्भ के लिए मुख सन्धि में प्रयुक्त द्वादश अङ्ग अग्रलिखित हैं = उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उदभेद, भेद और करण। ये सभी बारह नाम अन्वर्थक हैं। आगे हम इन सभी के लक्षण व उदाहरणों का अध्ययन करेंगे =

i) उपक्षेप – ''बीजन्यास उपक्षेपः'' अर्थात् बीज के न्यास= निक्षेप को उपक्षेप कहते है। जैसे रत्नावली में ''द्वीपादन्यास्मादपि मध्यादपि जलनिधेः....,'' इस श्लोक के द्वारा वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति रूपी कार्य के बीज का निक्षेप होने से उपक्षेप नामक अङ्ग है।

ii) परिकर– ''तद् बाहुल्यं परिक्रिया'' अर्थात् बीजन्यास के बाहुल्य को परिकर कहते हैं। यथा रत्नावली के प्रथम अङ्क में मंत्री यौगन्धरायण का ''अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः......'' इत्यादि कथन से बीजोत्पत्ति को पल्लवित करना परिकर की योजना है।

iii) परिन्यास– ''तन्निष्पत्तिः परिन्यासः'' परिकर की निष्पत्ति परिपक्वावस्था को परिन्यास कहते हैं। जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण के ''प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ......'' इत्यादि कथन में उसे अपने कार्यों तथा भाग्य पर पूर्ण विश्वास है कि उसका कार्य अवश्य पूर्ण होगा।

iv) विलोभन– ''गुणाख्यानं विलोभनम्'' अर्थात् फल से सम्बद्ध वस्तु के गुणों का कथन करना विलोभन होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वैतालिक के द्वारा चन्द्रमा व उदयन के समान गुणों के कथन से सागरिका का विलोभन करना।

v) युक्तिः– ''संप्रधारणमर्थानां युक्तिः'' अर्थात् पात्रों के अभीष्ट अर्थों का समर्थन करना युक्ति कहा जाता है। जैसे रत्नावली में मंत्री यौगन्धरायण का ''मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्'' इत्यादि वचनों में अपने कथन का समर्थन करने से युक्ति है।

vi) प्राप्ति– ''प्राप्तिः सुखागमः'' अर्थात् जब फल की प्राप्ति की सम्भावना में सुख का आगमन हो तो प्राप्ति अंग होता है। जैसे रत्नावली में वत्सराज उदयन को देखने के पश्चात् रत्नावली अपने जीवन को सफल मान कर सुखी होती है।

vii) समाधान– ''बीजागमः समाधानम्'' अर्थात् बीज का उपादन= बीज का युक्ति के द्वारा पुनः व्यवस्थापन समाधान कहा जाता है। जैसे रत्नावली में सागरिका उदयन को छिपकर देखने की इच्छा से मदनपूजा के स्थान पर आ जाती है। इस व्यापार से उदयन से समागम रूपी बीज का उपादान किए जाने से समाधान नामक अङ्ग है।

viii) विधान – ''विधानं सुखदुःखकृत्'' अर्थात् नायक आदि में सुखदुःख का उत्पन्न होना विधान कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में भीम के द्वारा युद्ध जन्य सुख–दुःख का वर्णन करने में विधान अङ्ग का सन्निवेश दिखाई देता है।

ix) परिभावना – ''परिभावोऽद्भूतावेशः'' अर्थात् जहाँ अद्भूत आवेश= पात्रों में आश्चर्य की भावना का वर्णन होता है, वहाँ परिभावना होती है। जैसे रत्नावली नाटिका में मदनपूजा के समय रत्नावली का उदयन को आश्चर्य पूर्वक कामदेव समझना। यहाँ अद्भूत रस के आवेश के कारण परिभावना है।

x) उद्भेद – ''उद्भेदो गूढ़भेदनम्'' अर्थात् छिपे हुए बीज को प्रगट करना उद्भेद होता है। यथा रत्नावली में कुसुमायुध के ब्याज से गूढ़ उदयन रूपी बीज का वैतालिक की उक्ति से भेदन हो जाने से उद्भेद नामक मुखाङ्ग है।

xi) करण – ''करणं प्रकृतारम्भः'' रूपक के इतिवृत्त के अनुसार जहाँ प्रकृत कार्य का आरम्भ होता है, वहाँ करण नामक अङ्ग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में छिपकर अनङ्ग पूजा देखने के पश्चात् रत्नावली का किसी को दिखे बिना जाने का प्रयास करना। इसके द्वारा नाटिका में आगामी अङ्क में निर्विघ्न दर्शन के प्रयत्न के आरम्भ की योजना होने से करण मुखांग है।

xii) भेद – ''भेदः प्रोत्साहना मता'' अर्थात् किसी पात्र को बीज के लिए प्रोत्साहित करना भेद नामक अङ्ग होता है। जैसे वेणीसंहार में भीम के द्वारा क्रोध और उत्साह रूपी बीज के अनुरूप वचनों से द्रौपदी को प्रोत्साहित करना भेद मुखांग है।

बीज तथा आरम्भ की व्यंजक मुखसन्धि के इन 12 अङ्गों का प्रयोग नाटकादि रूपकों में यथावसर करना चाहिए। इनमें से भी उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान का प्रयोग इस सन्धि में आवश्यक माना गया है।

16.3.2 प्रतिमुख सन्धि

सन्धियों में द्वितीय क्रम प्रतिमुख सन्धि का है। जैसा कि आपने पूर्व में पढ़ा है कि यह सन्धि बिन्दु अर्थप्रकृति तथा यत्न कार्यावस्था के योग से निर्मित होती है। प्रतिमुख सन्धि का लक्षण निम्नवत् है =

''लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश।।

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्यः किंचिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत् प्रतिमुखम्। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिका समागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति।।''

अर्थात् पूर्व में पठित उस बीज अर्थप्रकृति का कुछ दिखाई देना तथा कुछ न दिखाई देना अर्थात् लक्ष्य–अलक्ष्य रूप में उद्भिन्न= प्रस्फुटित होना प्रतिमुख सन्धि है। मुख सन्धि में जिस बीज का न्यास= वपन किया जाता है, वह उचित वातावरण में पोषण पाकर प्रस्फुटित होने लगता है। जैसे भूमि में बोया गया बीज का अङ्कुर कुछ अस्पष्ट होता है, वैसे ही प्रतिमुख सन्धि में बीज का उद्भेद कुछ–कुछ अस्पष्ट रूप में होता है। यह सन्धि नाटकीय कार्य–श्रृंखला को गति देते हुए प्रधान फल को किंचित् मात्र विकसित करती है। उदाहरण स्वरूप रत्नावली नाटिका में उदयन तथा रत्नावली के समागम रूपी जिस बीज को यौगन्धरायण ने बोया है वह आगे विदूषक तथा सुसङ्गता के जान लिए जाने से कुछ–कुछ प्रगट हो जाता है। वह बीज कुछ–कुछ अलक्ष्य भी है, क्योंकि चित्रफलक के वृत्तान्त से वासवदत्ता को इस बीज की अस्पष्ट जानकारी है। इस कारण बीज के अङ्कर का कुछ दृश्य व कुछ अदृश्य रूप में उद्भेद होने से यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतिमुख सन्धि की योजना है। सरल शब्दों में कहें तो प्रथम अङ्क में फल प्राप्ति के लिए जिस बीज को बोया गया था, वह बिन्दु के रूप में प्रकट होता है। इसके निम्न 13 अङ्ग होते हैं =

''विलासः परिसर्पश्च विधूतं षमनर्मणी।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम्।।

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।।''

अर्थात् प्रतिमुख सन्धि के विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास और वर्णसंहार नामक तेरह अङ्ग होते हैं। अब आप इनका क्रमशः अध्ययन करेंगे।

विलास – ''रत्यर्थेहा विलासः स्यात्'' अर्थात् रति की इच्छा को विलास कहते हैं। जैसे रत्नावली में सागरिका का उदयन से समागम की इच्छा से उसके चित्रनिर्माणादि कार्य में व्यापृत होना इसका उदाहरण माना जा सकता है।

परिसर्प – ''दृष्टनष्टानुसर्पणं परिसर्पः।।'' अर्थात् दृष्ट = दिखाई दिए बीज के नष्ट हो जाने पर पुनः उसका अन्वेषण करना परिसर्प कहा जाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में मैना के वचन से दृष्ट और चित्रदर्शन से नष्ट बीज का उदयन द्वारा पुनः अन्वेषण करना परिसर्प की योजना है।

विधूत – ''विधूतं स्यादरतिः'' रति का नष्ट होना विधूत कहा जाता है। जिस प्रकार वेणीसंहार में अनिष्ट से आशङ्कित भानुमती का दुर्योधन से रति न करना विधूत मुखांग है।

शम – ''तच्छमः शमः'' विधूत में वर्णित अरति का शान्त होना शम नामक प्रतिमुखाङ्ग है। यथा रत्नावली में जब सागरिका अपने लिए उदयन के प्रेम को जान जाती है तो उसकी अरति का शमन हो जाता है। यतोहि उसे उदयन की प्राप्ति की आशा साकार होती प्रतीत हो जाती है। यहाँ स्पष्टतया शम नामक अङ्ग की योजना दिखाई देती है।

नर्म – ''परिहासवचो नर्म'' परिहास से युक्त वचनों के प्रयोग को नर्म कहते हैं। जैसे रत्नावली में चित्रफलक के प्रसङ्ग में सागरिका और सुसंगता के हास्यपरक वार्तालाप में नर्म की अभिव्यक्ति होती है।

नर्मद्युति – ''धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता'' पात्रों में धैर्य की स्थिति को नर्मद्युति कहते हैं। यथा रत्नावली में सुसंगता के द्वारा ''सुखि! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुंचसि? कहने पर सागरिका का यह कथन ''सुसङ्गते! इदानीमपि न विरमसि।'' यहाँ धैर्यपूर्वक अनुराग बीज के उद्घाटन से नर्मद्युति अङ्ग है।

प्रगमन – ''उत्तरा वाक् प्रगमनम्'' अर्थात् रूपकों में जहाँ बीज के सहायक उत्तरोत्तर वचन प्रयुक्त हो वहाँ प्रगमन अंग होता है। यथा रत्नावली में राजा–विदूषक तथा सागरिका–सुसंगता के मध्य अनुराग रूपी बीज को अभिव्यक्त करने वाले उत्तरोत्तर वचनों के प्रयोग में प्रगमन की योजना है।

निरोध– ''हितरोधो निरोधनम्'' अर्थात् जब नायकादि को उनके हित की वस्तु की प्राप्ति से रोका जाता है तो उसे निरोध कहा जाता है। जिस प्रकार रत्नावली में उदयन का सागरिका रूपी रत्नावली को पाना उसका अभीष्ट है, किन्तु महारानी वासवदत्ता के आने की सूचना देकर विदूषक उस में अवरोध उत्पन्न कर देता है।

पर्युपासन – ''पर्युपास्तिरनुनयः'' निरोध के पश्चात् नायकादि का किसी से अनुनय–विनय करना पर्युपासन कहा जाता है। जिस प्रकार रत्नावली में उदयन और सागरिका को चित्र में एक साथ चित्रित देख कुपित हुई वासवदत्ता को अनुनय पूर्वक मनाना पर्युपासन की योजना है।

पुष्प–''पुष्पं वाक्यं विशेषवत्'' अर्थात् विशेष वाक्यों के द्वारा बीज का उद्घाटन हो तो उसे पुष्प कहते हैं। जैसे रत्नावली में उदयन और सागरिका के परस्पर दर्शनादि से प्रकाशित प्रेम की सूचना विदूषक–उदयन के निम्न संवाद रूपी पुष्प से अभिव्यक्त होती है।

तद्यथा–''विदूषक'=भो! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता। राजा= वयस्य! सत्यम्= श्रीरेषा पाणिप्यस्याः परिजातस्य पल्लवः।

कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः।

उपन्यास–''उपन्यासस्तु सोपायम्'' उपाय से युक्त वाक्य को उपन्यास कहते हैं। यथा रत्नावली के चित्रलेखन प्रसङ्ग में सुसङ्गता का यह बताना कि चित्र में सागरिका मैने अंकित की है तथा सागरिका ने आपको आलिखित किया है। यहाँ उपाय की योजना होने से उपन्यास नामक अंग है।

वज्र –''वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्'' अर्थात् नायकादि के प्रति स्पष्ट रूप से निष्ठुर वचनों के प्रयोग को वज्र कहते हैं। जैसे रत्नावली में पति उदयन व सागरिका के प्रेम को जानकर कुपित वासवदत्ता का उदयन के लिए निष्ठुर वचनों का प्रयोग करना वज्र प्रतिमुखांग की योजना है।

वर्णसंहार –''चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।।'' अर्थात् जहाँ ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र वर्ण एकत्रित हों, वहाँ वर्णसंहार होता है। जैसे महावीरचरित के तीसरे अङ्क में ऋषि, राजा अमात्यगण आदि सभी वर्ण के लोग परशुराम के क्रोध की शान्ति की प्रार्थना करते हैं। जो वर्णसंहार की सूचक है।

16.3.3 गर्भ सन्धि

यह रूपकों में प्रयुक्त होने वाली तीसरी सन्धि है। पताका अर्थप्रकृति तथा प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था के योग से इसकी निष्पत्ति होती है। प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कभी दृष्ट और कभी अदृष्ट था, वह इस सन्धि में विशेष प्रस्फुटित होता है। पुनरपि फल का लाभ विघ्नों से बाधित रहता है। जिस कारण पुनः–पुनः विघ्नों की प्राप्ति तथा फल का सन्धान होता है। इसमें फल की प्राप्ति की सम्भावना तो रहती है, किन्तु फल की प्राप्ति सुनिश्चित नहीं हो पाती। यह रोमांच ही गर्भ सन्धि का वैशिष्टय है। इसके लक्षण को निबद्ध करते हुए दशरूपक में लिखा है=

''गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वाद्वशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात् प्राप्तिसम्भवः।''

अर्थात् बीज के दिखाई देने व नष्ट हो जाने के बाद में उसका पुनः–पुनः अन्वेषण किया जाना गर्भ सन्धि है। सामान्यतया इसमें पताका व प्राप्त्याशा दोनों होते हैं, किन्तु इन दोनों में से पताका का होना अनिवार्य नहीं है, अर्थात् पताका की योजना की भी जा सकती है अथवा नहीं भी की जा सकती।

गर्भ सन्धि को आप रत्नावली नाटिका के उदाहरण से समझ सकते है। रत्नावली नाटिका में उदयन और सागरिका का मिलन फल है। तृतीय अंक में उदयन की फलप्राप्ति अर्थात् सागरिका से मिलन में रानी वासवदत्ता के द्वारा विघ्न उत्पन्न किया जाता है। किन्तु विदूषक के उपाय युक्त वचनों से उदयन को फल प्राप्ति की पुनः आशा उत्पन्न हो जाती है। पहले सागरिका रूपी फल की प्राप्ति की आशा, पुनः

वासवदत्ता द्वारा विघ्न उपस्थापित करने से आशा–विच्छेद, विघ्न–समाप्ति से पुनः फल–प्राप्ति की आशा, पुनः विघ्न आदि घटनाक्रम नाटिका में उत्सुकता उत्पन्न करता है। अन्त में राजा उदयन फल–प्राप्ति के हेतु का अन्वेषण करता है कि ''नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपाय'' अर्थात् वासवदत्ता को मनाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग में नाटिकाकार के द्वारा कुशलतापूर्वक गर्भ सन्धि की योजना की गई है। इस गर्भ सन्धि के अंग होते हैं। अब क्रमशः उनको जानेंगे।

''अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा।।
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते।।''

अर्थात् गर्भ सन्धि के अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम व आक्षेप नामक द्वादश अंग होते हैं। इनमें से अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप मुख्य हैं। अन्य अङ्गों का यथासम्भव प्रयोग किया जाना चाहिए। इन सभी का उदाहरण पूर्वक स्वरूप क्रमशः निम्नवत् है =

अभूताहरण –''अभूताहरणं छद्म'' अर्थात् जब छद्म= कपट से फल–प्राप्ति का प्रयास किया जाता है, तो उसे अभूताहरण कहते हैं। जैसे रत्नावली में सागरिका का उदयन को प्राप्त करने के लिए छद्म से वासवदत्ता का वेष धारण कर अभिसरण करना अभूताहरण नामक गर्भाङ्ग है।

मार्ग –''मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम्'' अर्थात् जहाँ अर्थप्राप्ति रूपी किसी तत्व का कीर्तन होता है तो उसे मार्ग कहते हैं। यथा रत्नावली में विदूषक राजा उदयन को वासवदत्ता के वेष में सागरिका से अभिसरण की सूचना देकर सागरिका से समागम का निश्चय उदयन को दिलाता है। अतः उदयन व विदूषक के संवाद में तत्त्वार्थ–कीर्तन के कारण मार्ग की योजना है।

रूप–''रूपं वितर्कवद्वाक्यम्'' अर्थात् जब फल–प्राप्ति की प्रतीक्षा करते हुए नायक आदि तर्क–वितर्क से युक्त वाक्यों का प्रयोग करते हैं तो उसे रूप गर्भाङ्ग कहते हैं। जिस प्रकार रत्नावली में राजा उदयन का यह तर्क–विर्तक कि महारानी वास्वदत्ता ने सागरिका से प्रेम की बात न जान ली हो आदि सागरिका–समागम रूपी प्राप्त्याशा की ही सहायता प्रतिपादित करते हैं, जिस कारण यहाँ रूप अंग है।

उदाहरण –''सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः'' अर्थात् उत्कर्ष= उन्नति से युक्त वाक्य को उदाहरण कहते हैं। जैसे रत्नावली में विदूषक द्वारा रत्नावली की प्राप्ति को कौशांबी राज्य को पाने के लाभ से भी उत्कर्ष रूप में प्रस्तुत करना उदाहरण अंग है।

क्रम –''क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः'' जहाँ अभिलषित वस्तु को पाने का चिन्तन किया जाए तथा उसकी प्राप्ति भी हो जाए तो वह क्रम कहा जाता है। यथा रत्नावली नाटिका में उदयन सागरिका को पाने का चिन्तन कर रहा था तथा उसी समय वासवदत्ता के वेष में सागरिका आ जाती है। इस प्रकार अभिलषित सागरिका की प्राप्ति होने से यहाँ क्रम गर्भाङ्ग है। इससे भिन्न कतिपय विद्वान भाव के ज्ञान को क्रम मानते हैं।

संग्रह – ''संग्रहः सामदानोक्तिः'' अर्थात् जब नायकादि अनुकूल आचरण करने वाले अन्य पात्रों को साम और दान आदि के कथन से प्रसन्न करे तो उसे संग्रह कहते हैं। जैसे रत्नावली में सागरिका की प्राप्ति कराने से अनुकूल आचरण करने वाले विदूषक

को राजा उदयन साम व दान आदि से प्रसन्न करता है। अतः यहाँ संग्रह का प्रयोग है।

अनुमान–''अध्यूहो लिङ्गतोऽनुमा'' अर्थात् लिङ्ग= हेतु के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाना अनुमान है। जैसे रत्नावली में राजा उदयन विवाहित होते हुए भी सागरिका से प्रेम कर लेता है, उसकी पत्नी रानी वासवदत्ता इस बात को जानकर जीवित न रह सकेगी। यहाँ प्रकृष्ट प्रेम–स्खलन हेतु के द्वारा वासवदत्ता की मृत्यु का तर्क करना अनुमान गर्भाङ्ग है।

अधिबल – ''अधिबलमभिसन्धिः'' जब अन्य पात्रों द्वारा नायक आदि के अभिप्राय को जान लिया जाता है तो अधिबल होता है। जैसे रत्नावली में राजा उदयन सागरिका से प्रेम करता है, यह बात जानकर रानी वासवदत्ता सागरिका के वेष में राजा से मिलती है तथा उसका अभिप्राय जान लेती है। जिस कारण यहाँ अधिबल है।

तोटक –''संरब्धं तोटकं वचः'' अर्थात् क्रोध से युक्त वचनों का प्रयोग तोटक है। जैसे रत्नावली में राजा उदयन सागरिका से प्रेम करता है, यह बात जानकर क्रोधित हुई वासवदत्ता उदयन की प्रेम–प्राप्ति में विघ्न उपस्थित कर देती है।

उद्वेग–''उद्वेगोऽरिकृता भीतिः'' शत्रु के द्वारा उत्पन्न किया गया भय उद्वेग होता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता सागरिका का अनिष्ट कर सकती है, जिस कारण वासवदत्ता उसकी शत्रु है। जब वासवदत्ता सागरिका को पकडकर ले जाती है, तब सागरिका को जो भय लगता है, वही उद्वेग है।

संभ्रम – ''शङ्कात्रासौ च संभ्रमः'' जब पात्रों में संशय और भय का संचार होता है, तब उसे संभ्रम कहते हैं। यथा रत्नावली में वासवदत्ता द्वारा उदयन व सागरिका के प्रेम को जान लेने पर सागरिका के मरने की आशंका व तज्जन्य भय की प्रतीति उदयन को होना संभ्रम है।

आक्षेप –''गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः'' जब गर्भबीज का उद्भेद हो, अर्थात् बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाए तो आक्षेप होता है। जैसे रत्नावली में उदयन का यह कथन कि सागरिका की प्राप्ति रानी वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही निर्भर है। यहाँ गर्भ–बीज को राजा द्वारा प्रकट कर देने से आक्षेप गर्भाङ्ग है।

16.3.4 अवमर्श सन्धि

सन्धियों में चतुर्थ क्रम पर आप अवमर्श सन्धि का अध्ययन करेंगे। यह सन्धि प्रकरी व नियाप्ति कार्यावस्था के योग से निष्पन्न होती है। सामान्य रूप से इसका अर्थ विचार या पर्यालोचन करना है। फल की प्राप्ति का निश्चय जहाँ पाया जाए और विगत गर्भसन्धि के द्वारा अन्वेषित बीज से संबंध भी पाया जाए तो वह अवमर्श सन्धि कही जाती है।

''क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्न बीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।।''

अर्थात् जहाँ क्रोध से अथवा व्यसन से अथवा लोभ से फल को पाने के विषय में विचार किया जाता है और जहाँ गर्भ सन्धि के द्वारा बीज के अर्थ को प्रकट कर दिया गया हो वहाँ अवमर्श सन्धि होती है। उदाहरण स्वरूप रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क में रानी वासवदत्ता की प्रसन्नता अर्थात् सहमति से राजा उदयन को सागरिका

रूपी फल की प्राप्ति बिना विघ्न के हो सकती है, इस अवमर्श की सूचना अग्निदाह और उससे नागरिकों के डर कर भागने के वर्णन तक दी गई है।इस अवमर्श सन्धि के तेरह अंगों का वर्णन करते हुए दशरूपक में लिखा है =

''तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम्।।
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।।''

अर्थात् अवमर्श के तेरह अङ्ग अपवाद, प्ररोचना, विचलन, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसङ्ग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन तथा आदान हैं। अब आप इन सभी अङ्गों के स्वरूप को सोदाहरण पढ़ेगे।

अपवाद—''दोषप्रख्यापवादः स्यात्'' किसी के दोषों का वर्णन करना अपवाद कहा जाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के द्वारा सागरिका के साथ किए गए कठोर व्यवहार को सुनकर विदूषक व राजा के द्वारा वासवदत्ता के लिए अप्रिय शब्दों के प्रयोग में अपवाद की योजना है।

संफेट —''संफेटो रोषभाषणम्'' क्रोध से युक्त वार्तालाप करना संफेट कहा गया है। जैसे वेणीसंहार में कर्ण व दुःशासन की मृत्यु के पश्चात् भीम तथा दुर्योधन का गदायुद्ध से पूर्व का रोष—पूर्ण संवाद संफेट का प्रयोग हैं।

विद्रव — ''विद्रवो वधबन्धादिः'' किसी पात्र का वध अथवा बन्दी बनाया जाना आदि विद्रव कहा जाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के द्वारा सागरिका को बन्दी बनाना तथा मरण की आशङ्का के वर्णन में विद्रव की योजना है।

द्रव—''द्रवो गुरूतिरस्कृतिः'' अर्थात् बडे लोगों के तिरस्कार का वर्णन द्रव कहा जाता है। यथा उत्तररामचरित में लव के द्वारा अपने से बडे रामचन्द्र के प्रति तिरस्कार—पूर्ण वचनों के प्रयोग को द्रव अवमर्शाङ्ग कहा जा सकता है।

शक्ति —''विरोधशमनं शक्तिः'' अर्थात् जब विरोध शान्त हो जाता है तो उसे शक्ति कहते हैं। जैसे रत्नावली में ''सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा'' इत्यादि श्लोक में उदयन को सागरिका की प्राप्ति का विरोध करने वाली वासवदत्ता के विरोध की शान्ति का वर्णन होने से शक्ति अंग है।

द्युत —''तर्जनोद्वेजने द्युतिः'' किसी पात्र का तर्जन व उत्तेजित करना द्युति होता है। जैसे वेणीसंहार में भीम का दुर्वचनों के प्रयोग से तथा सरोवर के पानी के आलोडन से दुर्योधन की तर्जना करना और उसे उत्तेजित करना द्युति है।

प्रसङ्ग—''गुरूकीर्तनं प्रसङ्गः'' जहाँ पूज्य = माता—पिता, गुरू आदि व्यक्तियों का संकीर्तन होता है, उसे प्रसङ्ग कहते हैं। जैसे रत्नावली में मंत्री यौगन्धरायण के द्वारा गुरू= पूजनीय सिंहलेश्वर का संकीर्तन करना प्रसङ्ग अवमर्शाङ्ग है।

छलन — ''छलनं चावमाननम्'' अर्थात् किसी पात्र के द्वारा अन्य पात्र की अवमानना करना छलन होता है। जैसे रामाभ्युदय नाटक में सीता का परित्याग कर उसकी अवमानना करने से छलन की योजना की गई है।

व्यवसाय —''व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः'' अर्थात् अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्य के विषय में कथन करना व्यवसाय है। जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के द्वारा उदयन से अपनी जादुगरी की शक्तियों का कथन करना व्यवसाय है।

विरोध – ''संरब्धानां विरोधनम्'' जहाँ क्रोधित हुए पात्रों के द्वारा अपनी शक्ति का कथन किया जाता है तो उसे विरोध कहते है। जैसे वेणीसंहार में कुपित भीम और दुर्योधन का अपने–अपने सामर्थ्य का कथन करना विरोध अवमर्शाङ्ग है।

प्ररोचना –''सिद्धमन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना'' अर्थात् सिद्ध व्यक्ति के द्वारा भावी घटना की सूचना देना प्ररोचना है। जैसे वेणीसंहार में दूत युधिष्ठिर के पास जाकर श्रीकृष्ण के भीम की विजय सम्बन्धी भावी घटना की सूचना प्रदान करता है। जो प्ररोचना की योजना है।

आदान –''आदानं कार्यसंग्रहः'' अर्थात् रूपक की कथावस्तु के कार्य को संगृहीत करना आदान होता है। जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन के वध के उपरान्त भीम का समस्त शत्रुओं के वध रूपी कार्य के समाप्त होने के कथन से आदान की योजना दृष्टिगत होती है।

16.3.5 उपसंहृति

सन्धियों में अन्तिम सन्धि उपसंहृति अथवा निर्वहण है। यह कार्य अर्थप्रकृति और फलाागम कार्यावस्था के संयोग से निष्पन्न होती है। उपसंहृति का लक्षण निबद्व करते हुए दशरूपक में लिखा है =

''बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।''

अर्थात् नाटकादि में जब बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो पूर्व में इतस्ततः बिखरे हुए थे, उन्हें एक अर्थ के लिए एकत्रित करना निर्वहण= उपसंहृति सन्धि होती है। जैसे रत्नावली नाटिका में मुख सन्धि आदि में इतस्ततः व्याकीर्ण सागरिका रूपी रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि पात्रों के कार्यो का उदयन की फलप्राप्ति रूपी कार्यार्थ एकत्रित होना निर्वहण सन्धि की योजना है। उपसंहृति अथवा निर्वहण के चौदह अङ्ग होते हैं=

''सन्धिर्विबोधो ग्रथनं कृतभाषोपगूहना।।
प्रसादानन्दसमयाः कृतभाषोपगूहना।।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्ति च चतुर्दश।।''

निर्वहण सन्धि के अग्रलिखित चौदह अङ्ग होते हैं = सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार और प्रशस्ति। अब आप क्रमशः इन सभी के लक्षणों को उदाहरणों के साथ समझेंगे।

सन्धि – ''सन्धिर्बीजोपगमनम्'' अर्थात् बीज की उद्भावना करना सन्धि नामक अंग है। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में सागरिका के वेष में छिपी रत्नवली को वसुभूति तथा बाभ्रव्य पहचान लेते हैं। इस प्रकार यहाँ नायिका रूपी बीज की उद्भावना होने के कारण सन्धि निर्वहणाङ्ग है।

विबोध –''विबोधः कार्यमार्गणम्'' अर्थात् नायकादि के द्वारा छिपे हुए कार्य को फिर से खोजना विबोध होता है। जैसे रत्नवली नाटिका में सागरिका के वेष में छिपी हुई रत्नावली को पहचान कर वसूभूति और बाभ्रव्य उसके विषय में राजा उदयन से जानकारी लेते हैं। इस प्रकार रत्नावली रूपी कार्य को पुनः खोजने से यहाँ विबोध है।

ग्रथन –''ग्रथनं तदुपक्षेपो'' अर्थात् कार्य का उपसंहार करना ग्रथन होता है। जैसे रत्नावली में उदयन को रत्नावली की प्राप्ति रूपी कार्य का उपसंहार करते हुए मंत्री यौगन्धरायण द्वारा यह कहना कि ''देव! क्षम्यतां यद् देवस्यानिवेद्य मयैतत् कृतम्''= महाराज! मुझे क्षमा करें कि आपसे निवेदन किए बिना मैने यह कार्य किया। यहाँ कार्य का उपसंहार होने के कारण ग्रथन है।

निर्णय –''अनुभूताख्या तु निर्णयः'' अर्थात् अपने द्वारा अनुभूत= किए गए कार्य के विषय में कहना निर्णय कहा जाता है। जैसे रत्नावली में मंत्री यौगन्धरायण के द्वारा की उदयन को रत्नावली की प्राप्ति हेतु किए गए कार्य–व्यापार का वर्णन करना निर्णय है।

परिभाषण –''परिभाषणं मिथो जल्पः'' अर्थात् कार्य–सिद्धि के विषय में परस्पर बात करना परिभाषण है। जैसे रत्नावली में सागरिका ही रत्नावली है यह बात जानने के पश्चात् वासवदत्ता और उदयन का परस्पर संवाद करना और रत्नावली का बन्धन खोलना परिभाषण की योजना है।

प्रसाद –''प्रसादः पर्युपासनम्'' नायकादि को प्रसन्न करने का प्रयास प्रसाद होता है। जैसे रत्नावली में मंत्री यौगन्धरायण के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति हेतु किए गए कार्यो को छिपाने के लिए नायक राजा उदयन से क्षमा मांगकर उसे प्रसन्न करना प्रसाद अंग है।

आनन्द –''आनन्दो वांछितावाप्तिः'' अर्थात् इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेना आनन्द है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता की स्वीकृति मिलने पर उदयन का इच्छित रत्नावली को पा जाना आनन्द है।

समय –''समयो दुःखनिर्गमः'' अर्थात् नायकादि के दुःख की समाप्ति समय है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के द्वारा दुःखी रत्नावली को गले लगाकर आश्वस्त कर उसका दुःख समाप्त करना समय है।

कृति –''कृतिर्लब्धार्थशमनम्'' अर्थात् प्राप्त हुए अर्थ का शमन करना कृति होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली की प्राप्ति होने के पश्चात् उदयन और वासवदत्ता एक–दूसरे को प्रसन्न करने के लिए परस्पर वचनों के द्वारा शमन करते हैं। जिस कारण यहाँ कृति निर्वहणाङ्ग है।

भाषण –''मानाद्याप्तिश्च भाषणम्'' नायक को मान आदि की प्राप्ति होना भाषण कहा जाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली को पाने तथा कौशल राज्य को जीतने के पश्चात् राजा उदयन का ''यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले....'' इत्यादि श्लोक का कथन उसके काम, अर्थ, मान आदि की प्राप्ति का द्योतक है। पूर्वभाव– ''कार्यदृष्ट्यद्भुत प्राप्ति पूर्वभावोपगूहने''

अर्थात् कार्य का दर्शन पूर्वभाग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में राजकुमारी रत्नावली राजा उदयन को दे देनी चाहिए, यौगन्धरायण के इस अभिप्राय का वासवदत्ता ''स्फुमेव किं न भणसि? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति'' (स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते हो? इसे रत्नावली दे दो।) यह कह कर दर्शन कर लेती है।

उपगूहन –''कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ति पूर्वभावोपगूहने'' अर्थात् नायक आदि को अद्भुत वस्तु की प्राप्ति होना उपगूहन है। जैसे वेणीसंहार में नेपथ्य से आकाश में संचार करने वाले सिद्धों के द्वारा अभिनन्दन करना अद्भुत प्राप्ति होने से उपगूहन का उदाहरण है।

उपसंहार –''वराप्तिः काव्यसंहारः'' नायकादि को वर की प्राप्ति होना उपसंहार अथवा काव्यसंहार होता है। जैसे रत्नावली में ''किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि''= मै तुम्हारे लिए और क्या प्रिय कार्य करूं? इत्यादि काव्यार्थ का उपसंहार है।

प्रशस्ति –''प्रशस्तिः शंसनम्'' कल्याण परक वाक्य को कहना प्रशस्ति कहा जाता है। जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर के द्वारा ''अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरूषायुषम्....'' इत्यादि कथन में कल्याण का कथन करना प्रशस्ति है।

इस प्रकार आपने उदाहरणों सहित पाँचों सन्धियों तथा उनके चौसठ सन्ध्यङ्गों का विस्तार से अध्ययन किया। इनके द्वारा रूपकों में इच्छित अर्थ की रचना, गोपनीय को छुपाना, प्रकाश्य को दिखाना, अभिनेय में राग की वृद्धि व चमत्कार का आधान तथा कथावस्तु में विस्तार आदि सम्पादित होते हैं।

16.4 अर्थोपक्षेपक का स्वरूप

सन्धियों के पश्चात् इस इकाई में आप अर्थोपक्षेपकों का अध्ययन करेंगे। आपको विदित है कि कथावस्तु का दृश्य तथा श्रव्य दो प्रकार से विभाजन होता है। इनमें से दृश्य कथावस्तु रङ्गमंच पर अभिनेय होने से सीमा में आबद्ध होती है। नायकादि से सम्बद्ध समस्त घटनाओं को ठीक उसी रूप में रूपकों में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है, जिस रूप में वे घटित होती हैं। एतदर्थ कुशल नाटककार प्रदर्शनीय घटनाओं को मंच पर दिखाता है तथा अन्य अप्रदर्शनीय अथवा निरस घटनाओं की सूचना पात्रों के परस्पर संवादों से अथवा नेपथ्य से देता है। यहाँ आपके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि कथावस्तु में सूच्य तथा दृश्य का विभाजन कैसे किया जाएगा? इसका समाधान आचार्य धनंजय ने इस कारिका से किया है =

''नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः।।''

अर्थात् कथावस्तु में जो कथाभाग रस से हीन हैं तथा जिनका मंच पर प्रदर्शन करना अनुचित है, उन्हें सूच्य कहते हैं। जो कथाभाग मधुरताः, नैतिकता, रसों तथा भावों से परिपूर्ण होते हैं, उन्हें दृश्य कहते हैं। इन दोनों में से सूच्य कथावस्तु की योजना अर्थोपक्षेपकों के द्वारा की जाती है। जैसा कि दशरूपक में उल्लेख भी है = ''अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्।।'' अर्थात् सूच्य कथाभागों का प्रतिपादन पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा करना चाहिए। अर्थ= कथावस्तु के उपक्षेपक=सूचक होने के कारण इन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं।

16.4.1 अर्थोपक्षेपकों के भेद

सूच्य कथाभागों का प्रतिपादन करने वाले अर्थोपक्षेपकों के पाँच भेद होते हैं। जिनके नाम विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार, और प्रवेशक हैं। अब हम इन पाँचों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

विष्कम्भक – अर्थोपक्षेपकों के अन्तर्गत पहला क्रम विष्कम्भक का है। इसमें पूर्व में हो चुकी या भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना मध्यम श्रेणी पात्रों के द्वारा दी जाती है। जैसा दशरूपक में उल्लेख है=

''वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।।''

रूपक में घटित हो चुकी अथवा भविष्य में घटने वाली कथाभागों की सूचना देने वाला विष्कम्भक होता है। इसमें मध्यम पात्रों के द्वारा संक्षेप में कथाभागों की सूचना दी जाती है।

नाटकादि में उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के पात्र होते हैं। राजा, मंत्री, पुरोहित आदि उत्तम पात्र हैं। शिकारी, चोर, सेवक आदि अधम पात्रों में परिगणित होते हैं। शेष पात्र मध्यम वर्ग में समाहित होते हैं। विष्कम्भक में केवल मध्यम पात्रों के द्वारा ही कथांशों की सूचना दी जाती है।

विष्कम्भक के शुद्ध और सङ्कीर्ण नामक दो भेद होते हैं–

''एकानेककृतः षुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः।।''

अर्थात् एक अथवा उससे अधिक मध्यम पात्रों से युक्त शुद्ध विष्कम्भक होता है। जैसे मालतीमाधव के तृतीय अङ्क में मध्यम पात्र से युक्त होन से शुद्ध विष्कम्भक है। मध्यम श्रेणी तथा अधम श्रेणी के पात्रों से युक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहा जाता है। जैसे रामाभिनन्द नाटक में क्षपणक तथा कापालिक से युक्त विष्कम्भक मध्यम व नीच पात्रों से युक्त होने के कारण सङ्कीर्ण अथवा मिश्र विष्कम्भक है। इन दोनों ही विष्कम्भकों में मध्यम पात्र का होना आवश्यक है।

चूलिका –यह द्वितीय अर्थोपक्षेपक है। जब सूच्य कथांश की सूचना मंच से न देकर नेपथ्य से दी जाती है, तो उसे चूलिका कहते हैं। इसका लक्षण बताते हुए दशरूपक में लिखा है=

''अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चुलिकार्थस्य सूचना।।''

अर्थात् जवनिका= पर्दे के अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा अर्थ की सूचना दी जाए तो उसे चूलिका अर्थोपक्षेपक कहते हैं। जैसे उत्तररामचरित के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में आत्रेयी के आने पर नेपथ्य= जवनिका के पीछे से वनदेवी उसका स्वागत करते हुए कहती है= ''(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः।। (ततः प्रतिशति तपोधना।) ''अर्थात् तपोधना का स्वागत हो। जिसके पश्चात् तपोधना मंच पर प्रवेश करती है। यहाँ नेपथ्य से तपोधन आत्रेयी के आने की सूचना देने के कारण चूलिका अर्थोपक्षेपक है।

अङ्कास्य – तृतीय अर्थोपक्षेपक अङ्कास्य है। इसमें अङ्क की समाप्ति के समय मंच पर उपस्थित पात्रों के द्वारा अग्रिम असम्बद्ध कथांश की सूचना दी जाती है। अङ्कास्य का लक्षण बताते हुए दशरूपक में लिखा है=

''अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।।''

अङ्कान्तपात्रों अर्थात् किसी अङ्क के अन्त में मंचस्थ पात्रों के द्वारा अङ्क की समाप्ति के समय किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना देना अङ्कास्य होता है। जैसे वीरचरित के द्वितीय अङ्क के अन्त में सुमन्त्र नामक पात्र मंच पर आकर शतानन्द और राजा जनक की कथा का विच्छेदन करते हुए आगामी अङ्क के आरम्भ की सूचना देता है। यहाँ अङ्कान्तपात्रों के द्वारा विच्छिन्न कथा की सूचना देने से अङ्कास्य नामक अर्थोपक्षेपक है।

अङ्कावतार –अर्थोपक्षेपकों में चतुर्थ क्रम अङ्कावतार का है। इसमें अङ्क के अन्त में मंचस्थ पात्र कथांश की सूचना देते हुए पूर्वागत कथावस्तु को विच्छिन्न किए बिना अग्रिम अङ्क में प्रवेश करते हैं। इसका लक्षण अधोलिखित है =

''अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः।।''

अर्थात् अङ्क की कथावस्तु का विच्छेद किए बिना अग्रिम अङ्क का आरम्भ होना अङ्कावतार है। जैसे मालविकाग्निमित्र के प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक आगामी अङ्क की वस्तु की सूचना देता है और दूसरे अङ्क के आरम्भ में प्रथम अङ्क की कथा अविच्छन्न रूप में ही अवतरित होने के कारण यह अङ्कावतार अर्थोपक्षेपक का उदाहरण है।

प्रवेशक –अन्तिम और पाँचवा अर्थोपक्षेपक प्रवेशक है। इसकी योजना विष्कम्भक की तरह घटित हो चुकी तथा भविष्य में घटने वाली घटनाओं की सूचना देने के लिए दी जाती है। इसका व्युत्पत्तिलम्य अर्थ है= ''अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिक–हृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः। इस आधार पर इसका कार्य सामाजिकों को अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध कराना है।

इसका लक्षण इस प्रकार है=

''तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः षेषार्थस्योपसूचकः।।''

अर्थात् विष्कम्भक की तरह प्रवेशक भी भूत और भावी कथांशों का सूचक है। इसमें नीच पात्रों का प्रयोग किया जाता है। इसकी योजना सदैव दो अङ्कों के मध्य में की जाती है अर्थात् प्रथम अङ्क में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। यह शेष अर्थों का सूचक होता है। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अङ्क के पहले प्रवेशक की योजना इसका अच्छा उदाहरण है।

16.5 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आपने दशरूपक में वर्णित दो प्रमुख तत्वों सन्धियों तथा अर्थोपकक्षेपकों का गम्भीरता से अध्ययन किया है। नाटकादि रूपकों किसी कथांश का अवान्तर कथांश से मेल होना सन्धि है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों के आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम नामक पाँच कार्यावस्थाओं के क्रमशः योग से यथासंख्य मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति अथवा निर्वहण नामक पाँच सन्धियों का निर्माण होता है। इनमें भी मुख सन्धि के 12, प्रतिमुख सन्धि के 13, गर्भ सन्धि के 12, अवमर्श सन्धि के 13 तथा उपसंहृति सन्धि के 14 अङ्ग कहे गए है। सन्धियों के पश्चात् आपने सूच्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाले अर्थोपक्षेपकों का अध्ययन किया है। अर्थोपक्षेपक के विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार तथा प्रवेशक नामक पाँच भेद होते हैं। इनके द्वारा यथावसर ऐसे कथांशों की सूचना दी जाती है जिनका मंच पर प्रदर्शन करना सम्भव न हो। इस प्रकार रूपकों में सन्धियों एवं अर्थोपक्षेपकों का अत्यन्त महत्व है।

16.6 शब्दावली

अर्थप्रकृतयः = अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतवः इति।
अर्थात् फल के उपाय

यथासंख्येन = क्रम के अनुसार।

सन्धिः = दो वस्तुओं का मेल।

उद्भेदः = प्रकाशन।

विप्रकीर्णाः = इधर–उधर बिखरे हुए।

जल्प = आपस की बातचीत।

जवनिका = नेपथ्य, रंगमंच का पर्दा

16.7 सहायक ग्रन्थ

1. धनंजय, दशरूपकम्, व्याख्याकार– डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
2. धनंजय, दशरूपक, व्याख्याकार– डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।
3. भरत, नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती–सहितम्) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
4. भामह, काव्यालङ्कार, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
5. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. पृथ्वीराथ द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. श्रीहर्ष, रत्नावली नाटिका, साहित्य भण्डार, मेरठ।

16.8 बोध प्रश्न

क) सोदाहरण सन्धि के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

ख) मुख सन्धि का लक्षण बताते हुए उसके अङ्कों का भी सोदाहरण निरूपण कीजिए।

ग) गर्भ सन्धि का विस्तार से प्रतिपादन कीजिए।

घ) अर्थोपक्षेपक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रवेशक का लक्षण लिखिए।

इकाई 17 नायक एवं नायिका भेद

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- अपने नाट्यशास्त्र विषयक ज्ञान में वृद्धि कर सकेंगे।
- नाटकादि रूपके के प्रमुख पात्र नायक के स्वरूप को जान सकेंगे।
- नायक के भेदों को जान सकेंगे।
- नायक के गुणों से परिचित हो सकेंगे।
- नायिका के स्वरूप तथा भेदों को जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत आप नायक एवं नायिका के स्वरूप और भेदों का अध्ययन करेंगे। नाटकादि रूपकों में इन दोनों का विशेष महत्व होता है। नायक दस प्रकार के रूपक के तीन भेदक तत्वों में अन्यतम है = ''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः''। नाट्य का प्रमुख पात्र, जो इतिवृत्त को मुख्य फल की ओर ले जाता है, वह नेता अथवा नायक है। इस नायक की प्रिया नायिका होती है। इस प्रकार रूपकों में दोनों ही समान महत्व रखते है।

दशरूपककार के अनुसार विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष आदि गुणोपेत व्यक्ति ही नायक बन सकता है। दशरूपक का सम्पूर्ण द्वितीय प्रकाश नायक–नायिका के वर्णन से युक्त है। वस्तुतः नाटकादि रूपकों को देखते समय दर्शकों पर सर्वाधिक प्रभाव नायक अथवा नायिका का ही पडता है। वर्तमान में भी हम देखते हैं कि चलचित्र धारावाहिक आदि के नायक= अभिनेता के चरित्र का व्यापक प्रभाव समाज पर पडता है। यही

कारण है कि आचार्य भरत ने नाट्य को समाज के सभी कर्मों का अनुदर्शन कहा है= ''लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्''। प्रत्येक नाटककार दर्शकों को उदार चरित से युक्त नायक का दर्शन कराना चाहता है। इस कारण लक्षणग्रन्थकारों ने नायक को उच्च तथा उदार गुणों से सम्पन्न बनाने के निर्देश दिए है। वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय आचार्य नायक में दोषों को प्रदर्शित करके दर्शकों के नैतिक विचारों को आघात नहीं पहुँचाना चाहते हैं। जिस कारण उदात्त गुणोपेत नायक लोकप्रतिष्ठित हो जाता है। इस इकाई के अध्ययन से आप नायक एवं नायिका का क्या लक्षण है? उसके गुण कौन–कौन से हैं? नायक–नायिका के कितने भेद होते हैं? इत्यादि प्रश्नों का समाधान जान सकेंगे।

17.2 नायक का लक्षण

नाटकादि रूपकों में मुख्य पुरूष पात्र को नायक कहा जाता है। ''नयति प्रापयतीति नायकः'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर नायक का अर्थ कथावस्तु को फल की ओर ले जाने वाला होता है। नायक अथवा नेता रूपकों का दूसरा भेदक तत्व है। रूपक की समस्त घटनाओं का अवसान इसमें होता है। यह नायक अन्य लोगों के उपकारार्थ उद्योग करने से धर्म रूपी फल, प्रियतमा की प्राप्ति होने से काम रूपी फल और अपूर्व वस्तुओं की उपलब्धि होने से अर्थ रूपी फल का भोक्ता होता है। नाट्य की व्यवस्थाओं तथा उपायमूलक अर्थप्रकृतियों का केन्द्र नायक होता है। एतदर्थ नायक का लोकहृदयानुरंजक होना आवश्यक है। नायक का लक्षण निबद्व करते हुए दशरूपक में लिखा है=

''नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा।।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।''

अर्थात् नेता= नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, समाज को प्रसन्न रखने वाला, पवित्र, वार्तालाप करने में कुशल, कुलीन वंश में उत्पन्न, स्थिर मन वाला तथा युवा होता है। वह बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला और मान से युक्त होता है। वह शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक भी होता है।

दशरूपक की वृत्ति में नायक के इन सभी गुणों को उदाहरण के साथ समझाया गया है। नायक को विनम्र होना चाहिए। जैसे महावीरचरित के नायक रामचन्द्र की विनम्रता ''यद्ब्रहमवादिभिरूपासितवन्द्यपादे'' इत्यादि पद्यों में अभिव्यक्त होती है। नायक का द्वितीय गुण उसका मधुर सुन्दर होना है। यथा महावीररचरित के नायक रामचन्द्र के माधुर्य का निबन्धन निम्नवत् है =

''राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन्।
अप्रतर्क्यगुणरमणीयकः सर्वथैव हृदयंगमोऽसिमे।।''

नायक को त्यागी अर्थात् सर्वस्व दान देने वाला होना चाहिए, जैसे जीमूतवाहन ने जीवन और दधीचि ने अस्थियॉ भी लोकहितार्थ दान दे दी थी। नायक को दक्ष अर्थात् किसी भी कार्य को तुरन्त करने वाला होना चाहिए। जैसे महावीर चरित में रामचन्द्र जी की दक्षता ''स्फूर्जद्वज्रसहस्त्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो'' इत्यादि से प्रकट हो रही है। नायक प्रियवचन बोलने वाला होता है। उदाहरण रूवरूप महावीरचरित में नायक

रामचन्द्र की प्रियवंदता का परिचय उनके परशुराम से संवाद में प्राप्त होता है। नायक का आचरण ऐसा होना चाहिए कि लोग उससे आनन्दित रहें। जैसे महावीरचरित में नायक रामचन्द्र के आचरण से समाज सन्तुष्ट है। नाय का शुचि अर्थात् मन से निर्मल होना भी अपेक्षित है। उसका मन काम आदि दोषों से युक्त नहीं होना चाहिए। जैसे रघुवंश के सोलहवें सर्ग में कुश ''का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा'' इत्यादि श्लोक के द्वारा अपनी शुचिता का प्रकाशन करते हैं। नायक को वाग्मी= बात करने में कुशल होना चाहिए। जैसे हनुमन्नाटक में रामचन्द्र परशुराम को प्रत्युत्तर देते हुए अपनी वाग्मिता का परिचय देते है=

''बाहोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य।
त्रैयम्बकस्य तनिम तत एष दोषः।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व।
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्।।''

यहाँ श्रीराम शिव जी के धुनष को तोडने से कुपित परशुराम को अपनी वाग्मिता से प्रसन्न करते हैं। इसी क्रम में नायक का उच्च कुल में उत्पन्न होना भी आवश्यक बताया गया है। उत्तररामचरित में राम उच्च रघुवंशी क्षत्रिय राजा हैं। इसी प्रकार राजा को युवा, शूर–वीर, उत्साही तथा तेजस्वी इत्यादि गुणों से समन्वित भी होना चाहिए।

17.2.1 नायक के सात्विक गुण

नायक के स्वरूप में उसके कतिपय गुणों के अध्ययन के उपरान्त अब हम नायक के अन्य सात्विक गुणों का अध्ययन करेंगे। दशरूपक में नायक में पुरूषत्व युक्त आठ सात्विक गुणों का होना आवश्यक बताया गया है। यतोहि नाट्यशास्त्रीय आचार्य इस बात से सुपरिचित थे कि नायक के चरित्र का व्यापक प्रभाव सामाजिकों पर पडता है, इसीलिए उन्होंने नायक के लिए पृथक् से इन गुणों का विधान किया है। आचार्य धनंजय नायक के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं=

''शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्विकाः पौरूषा गुणाः।।

अर्थात् शोभा, विलास, माधुर्य, गम्भीरता, स्थैर्य, ललित और औदार्य ये आठ नायक के पुरूषत्वयुक्त सात्विक गुण होते हैं। अब हम क्रमशः इनके लक्षण व उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

नायक के सात्विक गुणों में सर्वप्रथम शौर्य आवश्यक गुण है। शौर्य गुण का लक्षण है=

''नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।।''

अर्थात् नायक में नीच= अधम व्यक्ति के लिए घृणा, अन्य व्यक्ति को अधिक गुणवान् देखकर उससे स्पर्धा, अतिशय वीरता और कुशलता होना शोभा गुण में परिगणित होते हैं। शौर्य गुण के उदाहरण स्वरूप आप महावीरचरित के निम्न पद्य का अवलोकन कर सकते हैं=

''उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत् प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति।।''

अर्थात् ताड के पेड के समान ताडका राक्षसी के उत्पात को देखकर रामचन्द्र भय से कांपे नहीं। पुनरपि उसके वध के लिए नियुक्त होने पर उस ताडका के स्त्री होने के कारण किंचित् विचार करने लगे हैं। यहाँ नीच ताडका के प्रति घृणा आदि होने से शौर्य गुण की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है।

नायक का द्वितीय सात्विक गुण विलास है। विलास का लक्षण इस प्रकार है=

''गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः।''

अर्थात् जल नायक धैर्य से युक्त गति, धैर्ययुक्त दृष्टि तथा वाणी से युक्त होता है, तो विलास नामक गुण होता है। जैसे उत्तररामचरित का यह श्लोक=

''दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्वसारा,
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरूतां दधानो,
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव।।''

इस उदाहरण में चन्द्रकेतु का लव की धैर्ययुक्त गति आदि का वर्णन करना विलास गुण का सूचक है।

नायक का अग्रिम सात्विक गुण माधुर्य है। माधुर्य गुण के विषय में दशरूपक में लिखा है = ''श्लक्ष्णो विकारो माधुर्य संक्षोभे सुमहत्यपि।'' अर्थात् बहुत बडे क्षोभ के उपस्थित होने पर भी नायक में बहुत कम विकार होना माधुर्य है। जैसे खर–दूषण जैसे बडे राक्षसों के युद्व के लिए उपस्थित होने पर भी रामचन्द्र नहीं घबराए, उनमें बहुत न्यून विकार दृष्टिगत हुआ। जो निम्न श्लोक में अभिव्यक्त हो रहा है=

''कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि,
स्मरस्मेरं गुण्डोद्द्रुमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यंच्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलम्,
जटाजूटग्रन्थिं द्रढ़यति रघूणां परिवृढः।

यहाँ राक्षसों की बडी सेना के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भी रामचन्द्र केवल मन्द स्मित करते हुए अपनी जटाओं को दृढ़ कर रहे हैं। इस प्रकार बडे विघ्न को समक्ष देखकर भी उनमें अधिक विकार नहीं दिखाई देने के कारण माधुर्य गुण की प्रतीति हो रही है।

नायक का चतुर्थ सात्विक गुण गाम्भीर्य है। यह गुण पूववर्ती माधुर्य गुण से साम्यता रखता है। इसमें केवल इतना अन्तर है कि यहाँ विकार का सर्वथा अभाव होता है। इसका लक्षण है=

''गाम्भीर्ये यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते।।''

अर्थात् विकार का हेतु उपस्थित होने पर भी जब विकार का किंचित् भी प्रभाव नायक पर न हो तो गाम्भीर्य गुण होता है। जैसे यह श्लोक=

''आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।।''

यहाँ राज्यभिषेक के लिए आमन्त्रित करने पर तथा राज्याभिषेक न करते हुए वनवास के लिए निकाले जाने पर भी रामचन्द्र में किंचित् मात्र भी विकार उत्पन्न नहीं होने से गाम्भीर्य गुण की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है।

नायक का आगामी गुण स्थैर्य है। इसका लक्षण निम्नवत् है=

''व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।।''

अर्थात् अनेक विघ्नों के समपस्थित होने पर भी नायक का अपने व्यवसाय या मार्ग से विचलित न होना स्थैर्य नामक सात्विक गुण होता है। उदाहरण स्वरूप महावीरचरित का अधोलिखित श्लोक स्थैर्य गुण का व्यंजक है=

''प्रायश्चितं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यक्तिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।।''

यहाँ प्रायश्चित्त व्रत रूपी व्यवसाय से विचलित न होने के निश्चय से स्थैर्य गुण है।

नायक का अग्रिम गुण तेज है। दशरूपक में तेज का लक्षण इस प्रकार है=

''अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि।।''

अर्थात् नायक के द्वारा तिरस्कार आदि को प्राण–त्याग करते समय तक भी न सहना तेज नामक सात्विक गुण होता है। जैसे=

''ब्रत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः।।''

यहाँ मनस्वी जनों का तिरस्कार न सहन करने का वर्णन तेज गुण का द्योतक है।

नायक का अग्रिम सात्विक गुण ललित नामक हैं। ललित का लक्षण है=

''श्रृंगाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।।''

नायक में स्वाभाविक श्रृंगारपरक चेष्टाओं का होना ललित गुण होता है। यह स्वाभाविक श्रृंगार कोमल होता है। यथा =

''लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन,
स्वाभविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किं वा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा,
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम्।।''

इस श्लोक में नायक के कोमलता से युक्त श्रृंगारपूर्ण चेष्टाओं का वर्णन होने से ललित गुण है।

नायक का आठवां और अन्तिम सात्विक गुण है औदार्य। औदार्य का लक्षण है=

''प्रियोक्त्याऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः।।''

अर्थात् नायक का प्रियवचनों के द्वारा कहा गया प्राणोत्सर्गार्थ प्रस्तुत होना तथा सज्जनों को अपने आचरण से अनुकूल बना लेना औदार्य नामक सात्विक गुण है। उदाहरण स्वरूप आप नागानन्द के निम्न पद्य को ले सकते है=

''शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गुरूत्मन्।।''

यहाँ जीमूतवाहन गरूड के लिए प्रिय वचनों का प्रयोग करते हुए अपने शरीर को भी अर्पित करे देते हैं, यह प्राणोत्सर्ग औदार्य गुण का अभिव्यंजक है।

इस तरह नायक के उक्त आठ सात्विक गुणों को आपने उदाहरणों के साथ जाना। नाटकादि रूपकों में नायिका भी नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है।

17.3 नायक के भेद

नायक के स्वरूप और गुणों के अध्ययन के पश्चात् अब हम नायक के भेदों को जानेंगे। दशरूपक के अनुसार नायक चार प्रकार का होता है=

''भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।।''

अर्थात् नायक के चार भेद धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत होते हैं। यद्यपि उपरोक्त कारिका में नायक के भेदों के साथ धीर विशेषण नहीं लगाया गया है, किन्तु इनके पृथक्–पृथक् वर्णन के स्थलों में धीर विशेषण का प्रयोग प्राप्त होता है। यहाँ धीर से तात्पर्य है= स्वाभाविक बोध सम्पन्न या सहज बुद्धिवाला। यही कारण है कि नायक भेदों के साथ 'धीर' विशेषण लगाया गया है। चारों नायक–भेदों का परिचय निम्नवत् है=

धीरललित –नायक के चार भेदों में प्रथम क्रम धीरललित नायक का है। इसका लक्षण है=

''निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।।''

अर्थात् जो नायक निश्चिंत, कोमल स्वभाव वाला, सुखी तथा कलाओं में आसक्त रहता है, उसे धीरललित कहते हैं। यतोहि ऐसे नायक के योगक्षेम की चिन्ता उसके मंत्री आदि करते हैं, जिस कारण वह स्वयं निश्चित रहता है और निश्चिन्त रहने के कारण कलाओं में आसक्त रहता है। नृत्य–गीतादि कलाओं में व्यापृत रहने के कारण वह सुखी तथा कोमल स्वभाव का होता है। रत्नावली नाटिका के नायक उदयन को धीरललित कोटि में परिगणित किया जा सकता है। यतोहि उदयन अपनी समस्त चिन्ताओं का भार मंत्री यौगन्धरायण पर छोड़कर स्वयं निश्चिंत है। चित्र निर्माण व संगीत आदि कलाओं में उसकी आसक्ति नाटिका में स्पष्टतया परिलक्षित होती है। वह सुखी तथा मृदु भी है। इस प्रकार रत्नावली नाटिका के नायक उदयन में धीरललित नायक के समस्त लक्षण घटित होते हैं। उदाहरण स्वरूप=

''राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः,
सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्तवं चेति नाम्ना धृतिम्,
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः।।''

धीरशान्त – नायक का द्वितीय भेद धीरशान्त है। दशरूपक में इसका लक्षण निम्नवत् है=

''सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजातीकः।।''

अर्थात् विनीत, मधुर, त्यागी, आदि नायक के सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण, वैश्य, मन्त्रीपुत्र आदि धीरशान्त नायक होता है। धीरशान्त नायक प्रकरण नामक रूपक में होता है। यद्यपि प्रकरण रूपक के नायक में निश्चिन्तता, मृदुता, कलाप्रियता आदि धीरललित नायक के तत्व भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु पुनरपि ब्राह्मणादि की प्रकृति शान्त होने के कारण उसे धीरशान्त नायक में ही परिगणित किया जाएगा। मालतीमाधव का नायक माधव अथवा मृच्छकटिक का नायक चारूदत्त धीरशान्त प्रकृति के उदाहरण हैं। जैसे माधव के धीरशान्त गुणों को प्रदर्शित करता मालतीमाधव का यह श्लोक=

''तत उदयगिरेरिवैक एवं स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतुर्नयनगतामुदियाय बालचन्द्रः।।''

यहाँ नायक के सामान्य गुण यथा मधुर, कलाप्रिय, शुचि तथा रक्तलोक आदि द्विजातीक नायक माधव में अभिव्यक्त हो रहे हैं, जिस कारण वह धीरशान्त नायक है।

धीरोदात्त –नायक का तृतीय भेद धीरोदात्त है। दशरूपक में इसका लक्षण निम्नवत् प्राप्त होता है =

''महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः।।''

अर्थात् महासत्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान्, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहङ्कार वाला तथा दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त कोटि का होता है। यहाँ महासत्व का अर्थ है कि जिसका अन्तःकरण क्रोध, शोक आदि विकारों से अभिभूत न हो। अविकत्थन से तात्पर्य है कि जो आत्मश्लाघा अर्थात् अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाला न हो। निगूढ़ाहङ्कार का अर्थ है कि जो स्वाभिमानी तो हो किन्तु जिसका अहङ्कार विनम्रता से अभिभूत हो। दृढ़व्रत का अर्थ है कि जो अपने द्वारा ग्रहण की गई प्रतिज्ञा का पालन करे। इन गुणों से युक्त नायक धीरोदात्त कोटि का माना गया है। जैसे रामचन्द्र, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि उक्त गुणों से समन्वित होने के कारण धीरोदात्त नायक हैं।

धीरोद्धत – नायक का चतुर्थ व अन्तिम भेद धीरोद्धत है। धीरोद्धत का लक्षण निम्नवत् है=

''दर्पमात्सर्यभूमिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।।''

अर्थात् धीरोद्धत नायक दर्प, मात्सर्य, माया तथा छद्म से युक्त, अहङ्कारी, चंचल, चण्ड और विकत्थन होता है। यहाँ दर्प का अर्थ शौर्य आदि का घमण्ड है। दूसरों की उन्नति को सहन न करना मात्सर्य है। तन्त्र– मन्त्र आदि के द्वारा अविद्यमान वस्तु को प्रकट करना माया है। लोगों को ठगना छल है। चण्ड का अर्थ क्रोधी तथा विकत्थन का अर्थ अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाला होता है। जैसे महावीरचरित में कैलाश पर्वत को उठाने तथा तीनों लोकों को जीतने में स्वयं को समर्थ बताने वाले परशुराम धीरोद्धत कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार रावण, मेघनाद, भीम आदि भी इसके उदाहरण हैं।

दशरूपक में उपर्युक्त धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत नामक चतुर्विध नायक के अन्य भी भेद किए है। श्रृंगार रस प्रबन्धों में उपर्युक्त चार प्रकार के नायकों

के भी पुनः दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल नामक पुनः चार–चार भेद होते हैं। इस तरह नायक के 4X4=16 भेद होते हैं। जैसा कि दशरूपक में उल्लेख है=

''स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः।।''

अर्थात् जब नायक का हृदय कोई अन्य नायिका हर लेती है, तब वह नायक पूर्व की नायिका के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट होता है। इनके अतिरिक्त कुछ नायक ऐसे भी होते हैं, जो एक ही नायिका के प्रति आसक्त होते हैं। ऐसे नायक को अनुकूल कहा जाता है। जैसे उत्तररामचरित के नायक रामचन्द्र केवल अपनी पत्नी सीता के प्रति ही आसक्त हैं। इस प्रकार नायिका के प्रति व्यवहार के कारण श्रृंगार प्रबन्ध की दृष्टि से नायक पुनः चार प्रकार का होता है। जिनका क्रमशः परिचय निम्नवत् है।

दक्षिण नायक वह होता है जो प्रधान नायिका के प्रति सहृदय रहता है= ''दक्षिणोऽस्यां सहृदयः।'' अर्थात् दक्षिण नायक वह होता है जो नई नायिका से प्रेम हो जाने के उपरान्त भी अपनी पुरानी नायिका के प्रति सहृदय रहता है तथा उसके प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता है। जैसे रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज उदयन सागरिका रूपी नई प्रेमिका से प्रेम हो जाने पर भी अपनी पत्नी वासवदत्ता के प्रति प्रेम में कोई कमी नहीं आने देता है। जिस कारण हम उसे दक्षिण नायक कह सकते हैं।

नायक का द्वितीय भेद शठ है। शठ नायक का लक्षण है= ''गूढ़विप्रियकृच्छठः।'' अर्थात् शठ नायक वह है, जो वस्तुतः तो किसी अन्य नायिका से प्रेम करता है, किन्तु अपनी पहली प्रेमिका से झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हुए छिप–छिपकर उसका अनिष्ट करता है। सरल रूप से कहा जाए तो शठ नायक में दक्षिण नायक से केवल इतना अन्तर है कि दक्षिण नायक दूसरी नायिका से प्रेम करके भी अपनी पुरानी प्रेमिका के प्रति सहृदय रहता है, किन्तु इसके विपरीत शठ नायक पुरानी प्रेमिका के प्रति सहृदय नहीं रहता है। जैसे =

''शठाऽन्यस्याः कांचीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा,
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत् क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो,
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति।।''

यहाँ पुरानी प्रमिका का आलिंगन करते समय, नई प्रेमिका के आगमन का संकेत जानकर नायक अपने आलिंगन को शिथिल कर देता है। पुरानी नायिका इसे समझ न जाए, इसलिए वह उसे अपनी झूठी बातों में उलझा देता है। प्रथम नायिका की सखी नायक की इस शठता को समझ जाती है, और उक्त पद्य से उसे चेतावनी देती है। यहाँ नायक की चेष्टाओं में शठता की अभिव्यक्ति होती है।

नायक का तृतीय भेद है धृष्ट। इसका लक्षण है= ''व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो।'' अर्थात् जब नई नायिका के साथ श्रृंगार–चेष्टाओं से हुए अङ्गविकारों अथवा निशानों को नायक के शरीर पर देख कर पुरानी नायिका को नायक की छिपकर की गई चेष्टाओं का भान हो जाता है, तो वह नायक शठ नायक कहा जाता है। भाव यह है कि यह नायक प्रेम में अपराधी सिद्ध हो जाने के पश्चात् भी लज्जित नहीं होता है। जैसे अमरूकशतक का यह श्लोक=

''लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले,
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो,
लीलातामरसोदरे मृगदृशः साः समाप्तिं गताः।।''

यहाँ कनिष्ठा नायिका के साथ रति–क्रीडा से नायक के शरीर पर हुए चिन्हों को देखकर ज्येष्ठा नायिका को नायक की चेष्टाओं का भान हो गया। नायक इस अवस्था में भी ज्येष्ठा नायिका के सामने उपस्थित हो गया , जिससे उसकी धृष्ट की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है।

नायक का चतुर्थ भेद है अनुकूल नायक। इसका लक्षण है= ''अनुकूलस्त्वेकनायिकः।।'' अर्थात् जिसकी एक ही नायिका= । प्रेमिका होती है, वह अनुकूल नायक कहा गया है। इस कोटि का नायक एक ही नायिका में आसक्ति रखता है। जैसे उत्तररामचरित के नायक रामचन्द्र की एक ही नायिका सीता है। किसी अन्य स्त्री में उनकी आसक्ति नहीं है। जिस कारण उन्हें अनुकूल नायक की श्रेणी में रखा जाता है।

17.4 नायिका का लक्षण

इस इकाई के अन्तर्गत अब आप नायिका के स्वरूप के विषय में अध्ययन करेंगे। नाटकादि रूपकों की प्रमुख स्त्री पात्र को नायिका कहते हैं। सामान्य अर्थ में यह नायक की पत्नी अथवा प्रेयसी होती है। नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने इसे सुख का मूल, श्रृंगार का आलम्बन, रस का आधार आदि मानकर इसका विस्तार से वर्णन किया है। रूपकों का प्रायः श्रृंगार–प्रधान होने से नायिकाओं की अवस्था, स्वभाव, आकृति, प्रकृति तथा अलंकार आदि के विश्लेषण में आचार्यों ने विशेष श्रम किया है। नाट्य के संविधान में नायिका की विशेष भूमिका होती है। यही कारण है कि दशरूपक में नायिका के वर्णन–प्रसङ्ग में उसे नायक के गुणों से युक्त बताया गया है=

''स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।।''

यहाँ नायिका का स्वरूप–निर्धारण करते हुए 'तद्गुणा' पद का प्रयोग किया गया है। आचार्य धनिक ने वृत्तिभाग में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है =

''तद्गुणेति। यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति।।''

अर्थात् नायक के जो गुण कहे गए हैं, उनमें से यथा सम्भव गुणों से युक्त नायिका होती है। इस प्रकार दशरूपक में नायिका को नायक के समकक्ष माना गया है। नायक के जिन गुणों का अध्ययन आपने पूर्व में किया है, उन्हीं गुणों से युक्त स्त्री पात्र नायिका है।

17.4.1 नायिका के भेद

दशरूपक में नायिका के भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ''स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।।''

अर्थात् नायिका के स्वकीया, अन्या तथा साधारण स्त्री नामक तीन भेद होते हैं। इनका क्रमशः परिचय निम्नवत् है=

स्वकीया नायिका –स्वकीया नायिका का विधान प्राचीन भारतीय वर्णव्यवस्था की मर्यादा के अनुसार किया गया है। इसका वर्णन नायिका की आदर्शवादिता को प्रकट करता है इसका लक्षण है=

''मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।।''

अर्थात् स्वीया= । स्वकीया नायिका शील तथा लज्जा से युक्त होती है। वह सदाचारिणी, पतिव्रता, सरल, पति के अनुकूल व्यवहार करने वाली और लज्जायुक्त होती है। इसके पुनः तीन भेद होते हैं= मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा।

इनमें से प्रथम स्वीया मुग्धा का लक्षण है= ''मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।'' अर्थात् जिसमें यौवन तथा काम की नवीनता होती है, जो रति से कतराती है और क्रोध में भी कोमल रहती है, वह मुग्धा नायिका कही गई है। जैसे कुमार संभव के अष्टम सर्गका यह श्लोक द्रष्टव्य है=

''व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः।।''

यहाँ शिव–पार्वती के संभोग के वर्णन में पार्वती की वामवृत्ति का वर्णन होने से मुग्धा नायिका के लक्षण घटित होते है। इसी प्रकार रत्नावली, मालविका, प्रियदर्शिका आदि भी मुग्धा नायिका के उदाहरण हैं।

स्वीया का दूसरा भेद मध्या नायिका है। इसका लक्षण है= ''मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा।।'' अर्थात् मध्या नायिका यौवन तथा काम का विकास हो चुका होता है। वह रति–क्रिडा को मोह के अन्त तक सहन कर सकती है। जैसे=

तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि।।''

अर्थात् रति के समय महिलाओं की श्रृंगार–चेष्टाएं तब तक सुशोभित होती हैं, जब तक कमलों के जैसे स्वच्छ दिखने वाले उनके नेत्र मुकुलित नहीं होते। यह मोहान्त सुरत क्षमा मध्या नायिका का उदाहरण है।

स्वीया नायिका का तृतीय भेद प्रगल्भा नायिका है। प्रगल्भा का लक्षण है=

''यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयितांगके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना।।''

अर्थात् प्रगल्भा नायिका यौवनान्धा, कामभावना से उन्मत्त सी एवं लज्जारहित होती है। यह रति के समय प्रियतम से ऐसे चिपकती है, जैसे उसमें विलीन हो जाएगी तथा यह नायिका रतिक्रिडा के आरम्भ में ही आनन्द के कारण अचेतन सी हो जाती है। धारिणी तथा वासवदत्ता आदि इसी कोटि की नायिकाएं हैं।

अन्या नायिका –स्वीया नायिका के पश्चात् नायिका का द्वितीय भेद अन्या अथवा परकीया नायिका होता है। इसका लक्षण है=

''अन्यस्त्री कन्यकोढ़ा च नान्योढ़ाऽङ्गिरसे क्वचित्।
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम्।।''

अर्थात् अन्या नायिका रूपकों के नायक की अपनी परिणीता पत्नी नहीं होती है। इसीलिए इसे अन्य स्त्री कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है= (i) अविवाहिता पुत्री= कन्या (ii) किसी अन्य की परिणीता स्त्री= अन्योढ़ा। दशरूपक के अनुसार रूपकों में मुख्य रस के आलम्बन के रूप में अन्योढ़ा नायिका का वर्णन नहीं करना चाहिए। यद्यपि अपरिणीता कन्या के प्रति अनुराग अङ्गी रस का अङ्ग हो सकता है और अङ्ग रस का भी हो सकता है। कवि इस प्रकार के प्रेम को प्रधान अथवा अप्रधान दोनों प्रकार के रसों में निबद्ध कर सकता है। जैसे रत्नावली नाटिका में उदयन व सागरिका के प्रेम में सागरिका परकीया कन्या नायिका है।

साधारण स्त्री –नायिका का तृतीय भेद साधारण स्त्री है। इसका लक्षण है=

''साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौत्ययुक्।।''

अर्थात् साधारण स्त्री नायिका गणिका होती है। यह कला–कुशल, प्रगल्भ तथा धूर्त होती है। कई रूपकों में विशेष रूप से प्रकरण तथा भाण में गणिका को नायिका के रूप में चित्रित किया जा सकता है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना इस कोटि की ही नायिका है।

सामान्य रूप से नायिका के उक्त विभाजन के पश्चात् अवस्था के भेद से नायिका पुनः आठ प्रकार की होती है= स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित प्रिया और अभिसारिका। इनमें से प्रथम स्वाधीन पतिका नायिका का पति उसके पास रहता है तथा नायिका के अधीन होता है। इस कारण यह नायिका प्रसन्न रहती है=

''आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।।''

स्वाधीन–भर्तृका इसका पर्यायवाची है। नायिका का अवस्था की दृष्टि से द्वितीय भेद वासक सज्जा हो। इसका लक्षण इस प्रकार है=

''मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।।''

अर्थात् जो नायिका अपने प्रियतम के आने के समय हर्ष से स्वयं को आभूषणों से अलंकृत करती है उसे वासकसज्जा कहते हैं। नायिका का तृतीय भेद विरहोत्कण्ठिता हैं। इसका लक्षण है = ''चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठिता मता।।''

अर्थात् विरहोत्कण्ठिता नायिका वह होती है जो प्रिय के अपराधी न होने पर भी विलम्ब करने पर उत्कण्ठित मन से उसके आगमन की प्रतीक्षा करती है। नायिका का अग्रिम भेद खण्डिता है। जिसका लक्षण है=

''ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।।''

अर्थात् खण्डिता नायिका उसे माना गया है जिसका प्रिय किसी अन्य नायिका से सम्भोग करता है। अपने प्रियतम के इस अपराध के कारण जिसका मन ईर्ष्या से कलुषित हो जाए, वह खण्डिता नायिका होती है।

नायिका का पंचम भेद कलहान्तरिता है। इसका लक्षण है=

''कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।।''

अर्थात् जो नायिका अपने प्रियतम के अपराध करने पर उसका क्रोध पूर्वक तिरस्कार करती है, किन्तु बाद में क्रोध शान्त होने पर अपने पूर्व कृत्य के विषय में पश्चताप करती है। इस प्रकार के आचरण से युक्त को कलहान्तरिता नायिका कहा जाता है।

नायिका का षष्ठ भेद विप्रलब्धा नायिका है। विप्रलब्धा नायिका वह होती है जो निर्धारित समय पर प्रिय के न आने पर स्वयं को अत्यधिक अपमानित समझती है–

''विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता।।''

नायिका का सप्तम भेद प्रोषित प्रिया अथवा प्रोषित भर्तृका है। इसका लक्षण है–

''दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषित प्रिया।।''

अर्थात् जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य–विशेष से दूरस्थ किसी देश में रहता है, वह प्रोषित प्रिया नायिका मानी जाती है। नायिका का अन्तिम व अष्टम भेद अभिसारिका है। इसका लक्षण है–

''कामार्ताऽभिसरेत् कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका।।''

अर्थात् जो नायिका काम पीड़ित होकर अभिसरण के लिए स्वयं अपने प्रिय के पास जाती है अथवा प्रिय को अपने पास बुलाती है, उसे अभिसारिका कहा गया है।

इस प्रकार आपने जाना कि नायिका के सामान्यतया स्वीया, अन्या तथा साधारण स्त्री नामक तीन भेद होते है। इनमें से स्वीया के पुनः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेद होते हैं। इन नायिकाओं के अवस्था के आधार पर आठ भेद होते हैं। इस सभी का आपने विस्तार से अध्ययन किया है।

17.5 सारांश

इस सम्पूर्ण इकाई में आपने नायक एवं नायिका के विषय में विस्तार से अध्ययन किया है। नायक दस प्रकार के रूपकों के तीन भेदक तत्वों में अन्यतम है। यह रूपकों का प्रमुख पुरूष पात्र होता है, जो इतिवृत्त को मुख्य फल की ओर ले जाता है। रूपक की विकासमूलक व्यवस्थाओं तथा उपाय भूत अर्थप्रकृतियों का केन्द्र भी यही होता है। सहृदय दर्शकों पर सर्वाधिक प्रभाव नायक के चरित्र का पडता है। यही कारण है कि दशरूपक में नायक के स्वरूप–वर्णन में नायक के गुणों पर विशेष बल दिया गया है। विनीत, मृदु, त्यागी, दक्ष, प्रियवादी आदि गुण नायक के स्वरूपाधायक माने गए हैं। नायक के धीरललित, धीरशान्त, धीरोद्धात तथा धीरोदात्त नामक चार भेद होते हैं। इन चतुर्विध नायकों के दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल विभाग से पुनः चार–चार भेद होकर कुल 16 भेद होते हैं।

नाट्य में प्रमुख स्त्री पात्र को नायिका कहते हैं। यह नायक की प्रेयसी होती है। विनीत, मृदु आदि जो गुण नायक के कहे गए हैं, उन गुणों का समावेश नायिका में भी माना गया है। यतोहि रूपक प्रायः श्रृंगार रस–प्रधान होते हैं, जिस कारण नायिकाओं की अवस्था, अलंकार, स्वभाव, आकृति आदि के विवेचन में नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने विशेष श्रम किया है। सामान्य रूप से नायिका के स्वीया, अन्या तथा साधारण स्त्री नामक तीन भेद कहे गए हैं। जिनमें से स्वीया के पुनः तीन भेद– मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा होते है। अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका, वासकज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया तथा अभिसारिका नामक

आठ भेद माने गए हैं। इस प्रकार दशरूपक में नायक तथा नायिका के सभी पक्षों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

17.6 शब्दावली

रक्तलोकः = लोक को प्रसन्न रखने वाला।

अविकत्थनः = अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला।

मात्सर्य = असहनता।

चण्डः = क्रोधी।

17.7 सहायक ग्रन्थ

1 धनंजय, दशरूपकम्, व्याख्याकार– डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001

2 धनंजय, दशरूपक, व्याख्याकार– डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।

3 भरत, नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती–सहितम्) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001

4 भामह, काव्यालङ्कार, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।

5 डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. पृथ्वीराथ द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

6 श्रीहर्ष, रत्नावली नाटिका, साहित्य भण्डार, मेरठ।

17.8 बोध प्रश्न

क) नायक का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

ख) नायक के भेदों का वर्णन कीजिए।

ग) नायक के सात्विक गुणों का प्रतिपादन कीजिए।

घ) नायिका के भेदों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई 18 नायक के सहायक और नायिका की सहायिकायें, नाट्यवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

18.1 उद्देश्य

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- नाटक में नायक के सहायकों का परिचय बता सकेंगें।
- पीठमर्द (पताकानायक) की परिभाषा बता सकेंगे।
- विट, विदूषक, सहनायक, सचिव, प्राड्विवाक, कुमारामात्य, राजदूत, सेनापति, शकार आदि का उल्लेख कर सकेंगे।
- नायिका की सहायिकाओं में दूती, दासी, सखी, सन्यासिनी, शिल्पिनी, अनुचरी आदि को उदाहरण सहित समझा सकेंगे।
- चारों नाट्यवृत्तियों का उल्लेख कर पायेंगे।
- कैशिकी, सात्वती, आरभटी आदि वृत्तियों को समझाने में सक्षम हो सकेंगे।

18.2 प्रस्तावना

वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व में मनुष्यों (पुरुष–स्त्री) की तीन ही प्रकृति/प्रवृति प्राप्त होती हैं–

1. उत्तम कोटि 2. मध्यम कोटि 3. अधम (निकृष्ट) कोटि

मनुष्य के गुण तथा दोषों के आधार पर उसकी उच्च तथा निकृष्ट वृत्तियां दृष्टिगत होती हैं। नायक, नायिकाओं की जिस कोटि अथवा गुण–दोषों की प्रवृति होती है वे उसी प्रकार के सहायकों के अन्वेषक भी होते हैं।

नायिकाओं की प्रकृति–स्वकीया, परकीया, सामान्या जैसी भी हों, वे उसी प्रकृति/प्रवृति की सहायिकाओं की सहायता से नायकों को सुखोपभोग हेतु प्राप्त करने का प्रयास करती हैं।

नायक, नायिकाओं को अधम श्रेणी में नहीं रखा गया है, उन्हें उत्तम या मध्यम प्रकृति का ही स्वीकार किया गया है। जबकि नायक, नायिकाओं के सहायक यथा– विट, चेट, विदूषक, दूती अनुचरी अधम प्रकृति वाले ही कहे गये हैं।

संस्कृत काव्यों एवं कलाओं में मुख्यतः नाटक, मनुष्यों एवं मनुष्यों से पृथक् प्रवृति का अनुसरण करते हुए तदनुरूप आयामों के द्वारा चरमोत्कर्ष का रसास्वादन करते हैं, तथा वे नायकों के बाह्य स्वरूप का ही अनुसरण नहीं करते हैं, बल्कि नायकों के माध्यम से अन्तः चेतना के हृदयस्थ भावभंगिमाओं का भी अनुकरण करते हैं। कोई भी शिल्पकार या चित्रकार, जब किसी नायक अथवा नायिका के अंगो का शोभनीय चित्रण करता हैं, तब वह मात्र अंग–प्रत्यंगों को ही सजीव नहीं करता, अपितु उसके अंगों में नेत्र, कपोल, भोहों का चित्रण इस प्रकार करता हैं, कि वे समस्त भावाभिव्यक्तियों की अभिव्यंजना को सुन्दर रूप में चित्रित करते है। उसी प्रकार एक कुशल कवि भी नायक–नायिकाओं के माध्यम से स्वाभिव्यक्ति का चित्रण भी बडे मनोयोग से करते हुए, पात्रों के अभिनय से अपने मनोभावों को गहराई से प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार नायक–नायिकाओं के माध्यम से नाटक ही एकमात्र ऐसा साधन है, जो कि लोक तथा लोकोत्तर मनोभावों का सजीवता के साथ चित्रण प्रस्तुत करता है, तथा नवीन और श्रेयस्कर मार्ग की ओर मानवीय संवेदनाओं को अग्रसर करता है।

प्रस्तुत इकाई में नायक, नायिकाओं के सहायकों का वर्णन किया जा रहा है, जिससे हम अवगत होते हैं, कि नायक, नायिकाओं के सहयोगी किन–किन रूपों में अपने अन्नदाताओं के सहयोगी रहे हैं, तथा प्रशासनिक न्याय, दण्डादि व्यवस्थाओं को राजाज्ञा द्वारा कैसे संचालित किया जाता रहा है।

18.3 नायक के सहायक

18.3.1 पताकानायक

काव्यशास्त्र के अनुरूप नायक के नानाविध सहायक होते हैं, इनमें मुख्य रूप में 'पताकानायक' कहलाते हैं। मुख्यनायक (राजा) को समय–समय पर सामंजस्य स्थापित करने के लिए, राय देना, तथा अपनी बुद्धिचातुर्यता से प्रधान नायक के सबसे प्रिय भक्त के रूप में पताकानायक को जाना जाता है। मुख्य नायक (राजा) की अपेक्षाकृत पताकानायक गुणों में थोडा ही कम होता है, लेकिन यह योग्य होता है। इसी पताकानायक को पीठमर्द भी कहा जाता हैं–

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः।
तस्यैवानुचरो भक्तः किंचिदूनश्च तद्गुणैः।। (दशरूपक 2/8)

आधिकारिक तथा प्रासंगिक दो वस्तुभेद हैं, जिसमें मुख्यनायक आधिकारिक कहलाता है, तथा पताका एवं प्रकरी भेद से प्रासांगिक के दो भेद कहे गये हैं। प्रासांगिक कथावस्तु का पताकानायक ही पीठमर्द कहलाता है, जो मुख्यनायक का सहयोगी होता है। उदाहरणार्थ– मालतीमाधव में माधव का पताकानायक (पीठमर्द) मकरंद तथा रामायण में राम के पताकानायक (पीठमर्द) सुग्रीव हैं।

18.3.2 विट

नायकों के सहायकों की बहुत सी श्रेणियां हैं, जिनमें 'विट' वे कहलाते हैं, जो किसी भी एक विद्या (गायन या नृत्य) में पूर्ण पारंगत एव सिद्धहस्त होते हैं। –

एक विद्यो विटश्चान्यो,।(दशरूपक–द्वि0 प्र0)

नायक के अवर सहायकों में विट महत्वपूर्ण है, वह बहुत ही सुन्दर रूप को धारण करने वाला, उच्च एवं धवलित वस्त्रों से युक्त, कुशाग्र बुद्धि वाला, वेश्याओं की चाटुकारिता में प्रमुख भूमिका निर्वहन करने वाला, लेखन में प्रवीण, कवित्वशक्ति का धारक एवं बुद्धिचातुर्यता से राजा (नायक) के कार्यों में सहयोगी होता है–

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः।।
शास्त्रार्थतत्ववेदी च निपुणो वैशिकेषु च।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्। (ना0 शा0 35/76–77)

''विट्'' संस्कृत भाषा को सुस्पष्ट एवं व्याकरणिक नियमों से बोलने वाला, काम उपभोग में हर समय तत्पर रहने वाला, स्वच्छन्द मानसिकता का धारक तथा प्रणयादि व्यापार का सूत्रपात कर प्रचारित करने वाला होता है। स्वेच्छाचार को उत्तम तथा वैवाहिक

नियमों एवं बन्धनों को विट निन्दित मानता है। उसकी मान्यता है, कि किसी भी स्त्री–पुरुष को, चाहे वह विवाहित हो, अथवा न हो, स्वमनानुकूल पुरुष अथवा स्त्री से सम्भोग करना चाहिए, तथा कामसन्तुष्टि के लिए सामाजिक कठोर नियम नहीं होने चाहिए, काम और विषयों के सुखों को पूर्ण करने के लिए जितना भी धन लगे, उसे खर्च किया जाना चाहिए, विट स्त्री संसर्ग का सदा उत्साही होता है, तथा कामपिपासा की पूर्ति अथवा संतुष्टि के मार्ग में आने वाले को द्रोही मानता है, तथा इस कार्य को करने के लिए वह धूर्तता करने में भी पीछे नहीं हटता है, किन्तु साथ ही विट राजकार्यों में कलाओं की निपुणता के कारण राजा अथवा नायक का प्रिय होता है, वह राजा (नायक) के समस्त शासकीय तथा अशासकीय सभाओं एवं गोष्ठियों हेतु अधिकृत होता है, तथा नियमानुरूप उक्त बैठकों में सहभाग भी करता है।

18.3.3 विदूषक

नायक कामुख्य सहायक विदूषक होता है, जिसका कार्य नायक (राजा) को हास–परिहास करके तनावमुक्त रखना होता है, तथा विदूषक हास्य हेतु मुख्य होता है, इसलिए उसके वस्त्रों की साजसज्जा तथा वेषभूषा भी परिहासार्थ उत्पन्न करने वाले होते हैं, तथा कभी–कभार विदूषक हास–परिहास करते हुए भी बडी महत्वपूर्ण बात की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट करता हैं। –

हास्यकृच्च विदूषकः। (दशरूपक–द्वि0 प्र0)

विदूषक नायक का समीपस्थ सहायक होता है। राजा अथवा नायक के प्रेम सम्बन्धी क्रियाकलापों में सहायकों की सूची (श्रेणी) में सबसे बडा स्थानविदूषक का होता है। नायक के प्रेमकृत्यों में सहयोग (सहायक) करने वाले समस्त सहायकों को नम्र सहायक कहा जाता है।

संस्कृत साहित्य के लगभग समस्त नाटकों में विदूषक होता ही है। विदूषक के बिना नाटकों में मनोरंजन अथवा हास्य–विनोद की अवस्थाओं का प्रायः अभाव सा हो जाता है। वह राजा के मनोरंजन का मुख्य व्यक्ति होता है, तथा नायक (राजा) को तनावपूर्ण स्थितियों से विदूषक हास–परिहास के माध्यम से मुक्त करता है, जिन नाटकों में नायक–नायिका का प्रेमालाप अथवा श्रृंगारिक गतिविधियां प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होती है, वहांविदूषक नायक–नायिका की प्रेमलीला या प्रेमाचार को गति प्रदान करने में मुख्य सहायक होता है। वह अंग–निक्षेप, पद निक्षेप के माध्यमों से एवं वाणी की मधुरता युक्त हाव–भावों से हास्य उत्पन्न करता है, तथा परिहासयुक्त गायन या नृत्यादि से मनोरंजन प्रदान करने का कार्य करता है, जिससे नायक के प्रति नायिका का मिलन निश्चित हो सके, नायिका के सम्मुख नायक की प्रशंसा करना, तथा नायिका को यह विश्वास दिलाना, कि नायक द्वारा उसके मनोनुकूल ही प्रेमव्यवहार होगा, विदूषक नायिका को नायक के प्रति प्रेमोत्सुक करने में कुशल होता है, तथा अन्ततोगत्वा नानाप्रकार की चाटुकारिता एवं नायक (राजा) की प्रशंसा करके वह अपनी प्रतिभा से नायक–नायिका का मिलन करा ही लेता है। इस कार्य में मुख्य रूप से चार प्रकार के नायक सहायकों अथवा नर्मों की सामूहिक क्रियाशीलता देखी जाती है। चार प्रकार के नर्म (नर्मगर्भ, नर्म, नर्मस्फिंज, नर्मस्फोट) मिलकर इस प्रकार समस्त प्रेम एव प्रणय व्यापार में मिलकर कार्य करते हैं।

विदूषक बुद्धिचातुर्यता से कई प्रयोग करके वातावरण को प्रसन्नतायुक्त बनाये रखने की प्रतिभा रखता है। वह वेदादि शास्त्रों का ज्ञाता भी होता है। उसकी शारीरिक

संरचना भी उसके हास्य या मनोरंजन में महत्वपूर्ण अभिनय प्रदान करती है, वह गंजा, पीत नयनों वाला, हंसमुख प्रवृत्ति वाला, पीत केशों से युक्त, तथा भूरी दाढी वाला होता है तथा अपने नयनों के माध्यम से नाना प्रकार के कटाक्षों को करते हुए हास्य उत्पन्न करता है। वह बौना (वामन), कुबडा तथा दो जीभ वाला (एक ही बात को दो अर्थों के शब्दों का प्रयोग करने वाला), औसत रूप वाला या विकृत मुख वाला होता है, भोजन से प्रेम करने वाला (अधिक खाने वाला), जीभ के वश में रहने वाला अर्थात् नित नये–नये पकवानों का आस्वाद करने की इच्छा वाला, मुख्य (प्रधान) नायक का परममित्र एवं प्रत्येक मुख्य कार्यों का सहायक होता है, तथा बिना किसी की आज्ञा लिए अन्तःपुर (राजमहिलाओं के शयनकक्ष अथवा व्यक्तिगत निवासस्थल) में बिना बाधा के प्रवेश करने हेतु अधिकृत होता है। नायक द्वारा दिये गये संदेशों (राजस्त्रियों, प्रेमिकाओं हेतु) को अन्तःपुर में लाना, लेजाना विदूषक का कार्य है, तथा समय–समय पर नायक को कामक्रिया (रतिक्रिया) के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव देना, एवं नायक को यौन अथवा सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी उत्तमोत्तम ओषधियों का सेवन करने के लिए प्रेरित करना, तथा राजवैद्यों को इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाने के लिए आदेशित करना भी विदूषक का कार्य है

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है, कि विदूषक नायक का परम सहायक होता है।

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः।
खलति पिंगलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः।। (ना0 शा0– 35/57)

18.3.4 अनुनायक

संस्कृत काव्यग्रन्थों में नायक के सहायकों में उपनायक (सहनायक) एवं अनुनायक नामक विभिन्न श्रेणियां वर्णित हैं। नायक का एक दूसरा स्वरूप और भी है, जिसे प्रतिरूप भी कहा जाता है, वह अनुनायक कहलाता है, तथा किसी भी नायक अथवा राजा के अपने अभिधेय लक्ष्य की प्राप्ति में उसका सर्वश्रेष्ठ योगदान होता है। नायक के गुणों में अनुनायक आंशिक न्यून होता है।

यह उपनायक के समान ही आदरणीय एवं लोक में पूज्य होता है, किन्तु वह नायक से अल्पगुणहीन ही होता है। यह अपने आप किसी कार्य को प्रारम्भ एवं समाप्त नहीं कर सकता है, नायक के द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्यकलापों में यह स्थायी रूप से सहयोगी होता है, तथा कार्यव्यापार में नायक का परमसहायक होता है। इसलिए इसे नायक का सहायक भी कहा जाता है।

नायक समस्त कार्यव्यापार का प्रधान केन्द्र होता है, तथा नायक की इच्छानुसार जो भी कार्य किये जाते हैं, उन सभी की फल प्राप्ति या उद्देश्यों की पूर्ति में जो सहयोगी होते हैं। वे नायकके सहायक कहलाते हैं। नायकों के आदेशानुसार वे कार्यों मेंनायक की सहायता करते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों के आयोजनतथा पूजनकर्म सम्बन्धी कर्तव्यों का शास्त्रोक्त रीति–नीतियों से सम्पादन करने के लिए नायकके सहयोगी, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण, याज्ञिक, वेदों के सम्यक् ज्ञाता तथा त्रिकालसन्ध्योपासन कर्म करने वाले तपस्वी होते हैं, तथा यथार्थ तथ्यों के अन्वेषण में भी उपरोक्त सहायकों का सहयोग नायकप्राप्त करता है। धार्मिक अनुष्ठानों व आर्थिक व्यापारों के संयोजन के अतिरिक्त भी नायक में प्रेमालाप भी जीवन का महत्वपूर्ण अंग है –

गूढमन्त्रः शुचिर्वाग्मी भक्तो नर्मविचक्षणः।

स्यात् नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्री प्रसादकः।। (श्रृं0 तिलक– 1/39)

नायकहेतु काम की प्राप्ति कराने का कार्य अत्यधिक जटिल एवं सूक्ष्म होता है, इस कार्य की निर्विवाद सिद्धि के लिए नायकको भी विशेष रूप में प्रतिभाशाली गूढ सहायकों की आवश्यकता होती है, तथा इस कार्य का सम्यक सम्पादन चेट, चेटी, प्रतिहारी, विदूषक, विट, दूत, दूती बड़े ही सजग होकर करते हैं। प्रधान नायकके मुख्य सहायक चार प्रकार के होते हैंः– धर्मसहायक, अर्थसहायक, दण्डसहायक तथा नर्मसहायक।

नायकके सहायकों में मन्त्री एवं पुरोहित भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। ये उच्च कुल में जन्मे, श्रेष्ठ बुद्धि को धारण करने वाले, वेद–वेदांगो के प्रभावी ज्ञाता, लोक,प्रजा से प्रेम तथा सौहार्द रखने वाले, किसी भी प्रकार के लोभ से पृथक् रहने वाले, विनम्रतापूर्वक व्यवहार करने वाले, पावन ह्दय के धर्ता तथा धर्म एवं अनुष्ठानों के प्रति आदर भाव रखने वाले होते हैं–

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थ चिन्तने।
मन्त्रिणा ललितः सेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्वयः।। (दशरूपक– 2/42)

18.3.5 सचिव

सहायकों की कोटि में नायक के सचिव का बडा स्थान है। नायक (राजा) का सचिव तद्वद सोच रखने वाला, राजनीति, कूटनीति व राजधर्म के पालनार्थ समस्त नीतियों का प्रभावी ज्ञाता, शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ, प्रमादविहीन, दूसरे के दोषों का दर्शन करने तथा समझने में अपनी बुद्धि का सम्यक् प्रयोक्ता, कोष का संरक्षक, आय–व्यय का पूर्ण नियन्त्रणकर्ता तथा स्थान, समय एवं परिस्थितिजन्य समस्याओं का समापन करने में कुशल होता है।

18.3.6 प्राङ्विवाक

प्राड्विवाक, नायक का एक सहायक होता है, वह वित्त सम्बन्धी समस्त आगणनों का श्रेष्ठ ज्ञाता, सभी के मन्तव्यों को गम्भीरतापूर्वक सुनने के पश्चात् ही निष्कर्षो का निर्धारक, कौन सा कार्य तत्काल किया जाना उचित है, कौन सा कार्य राज्यहित, देशहित, प्रजाहित के विपरीत है, उसके निर्धारण में नायक (राजा) को तत्सम्बन्धी प्रकरणों पर उचित राय प्रदान करना, एवं उचित कार्य के लिए प्रेरित करना, धैर्यशाली, गम्भीर स्थिति में भी क्रोध पर नियन्त्रण रखने वाला तथा समस्त लोगों के प्रति समान भाव वाला होता है।

18.3.7 कुमारामात्य

सहायकों के प्रकार में कुमारामात्य भी नायक का सहयोगी होता है, वह नायक द्वारा निर्देशित प्रकरणों को सहज स्नेह की दृष्टि से विनम्रतापूर्वक करता रहता है, कार्यों की निपुणता के कारण नायक द्वारा इसे तटस्थ रहने के लिए कहा जाता है, समस्त प्रकरणों में तटस्थ रहते हुए, वह किंकर्तव्यविमूढ की स्थिति में भी समाधान प्राप्त करता है, तथा बुद्धि के प्रयोग से वैमनस्यता पर अंकुश लगाने वाला होता है।

18.3.8 राजदूत

नायक के सहायकों में प्रमुख स्थान राजदूत का भी है। राजदूत शास्त्रों का जानकार, हाव–भाव के आधार पर व्यक्ति के मनोभावों की समझ रखने वाला, आकृति तथा चेष्टाओं से किसी की भावभंगिमाओं से आगे की स्थितियों की परख करने वाला, सम्भ्रान्त कुल में जन्म लेने वाला, निश्चल ह्रदय वाला, बुद्धिशाली होता है। वह विषम परिस्थितियों को सुगम बनाने की प्रतिभा रखता है, तथा अपनी वाणी तथा बुद्धि की चतुरता से विपक्षी अथवा शत्रुपक्ष को किसी भी ऐसी बात पर सहमत कर लेता है, जिससे भविष्य में शत्रुदल नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है।

18.3.9 सेनापति

नायक को राज्य की सुरक्षा तथा आपात स्थितियों में धैर्यपूर्वक समस्याओं के निराकरण के लिए सेना की आवश्यकता होती है। नायक (राजा) के प्रमुख सहायकों में सेनापति अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पद है, जो राज्य को विषम और भीषण स्थितियों में बचाता है, यह भी आवश्यक है, कि नायक का सेनापति आज्ञापालक होना चाहिए, सेनापति शास्त्रों के अनुसार धैर्यशाली, देश, काल परिस्थिति का अतिशीघ्रता से अनुमान लगाने वाला तथा साहसी व उच्च एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेने वाला होना चाहिए , अन्यथा स्थितियां नायक (राजा) के लिए विपरीत भी हो सकती है।

18.3.10 वर्षवर, (वर्षधर)

नायक के अवर सहायकों में वर्षधर अथवा वर्षवर भी महत्वपूर्ण भूमिका का योगदाता है–

'' वर्षस्य पूरकस्य धरः आश्रयकर्ता इति वर्षधरः तथा वर्षस्य रेतो वर्षणस्य वरः आवारकः इति वर्षवरः।''

(संस्कृतरूपकों में पूर्वरंगविधान– द्वि0 अ0/पृ0. 115)

इस व्युत्पत्ति के अनुरूप वीर्यहीन पुरुष को वर्षवर कहते हैं, जिसे लोकाचार में सामान्यतया 'नपुंसक' भी कहते हैं। यह अन्तःपुर (नायिकाओं का निवास/शयन स्थल) में नायक का प्रणय सहयोगी होता है, तथा प्रणय सम्बन्धी कृत्यों व कामक्रीडा एवं रति सम्बन्धी क्रियाकलापों में नायक का सहयोगी होता है। यह धूर्त न होकर नायक का विश्वस्त सहायक होता है।

18.3.11 कंचुकी

नायक का एक सहायक कंचुकी होता है, यह वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध दोनों होता है, इसके केश सफेद होते हैं, तथा नायक अथवा राजा इसके अनुभव तथा युक्तियों की सदैव अपेक्षा रखता है ताकि प्रजातान्त्रिक मूल्यों की रक्षा तथा प्रजा में सामाजिक सद्भाव निर्मित हो सके। नायक के लिए कंचुकी की सलाह मुख्य होती है।

18.3.12 चेट

सहायकों की कोटि में चेट भी नायक का सहयोगी होता है। यह धार्मिक एवं अधार्मिक दोनों ही प्रवृत्तियों के होते हैं। यह अनावश्यक झगड़ालू प्रवृत्ति का, बहुत बोलनेवाला,

असुन्दर, विकृत स्वरूप वाला, गंध की समझ रखने वाला, मान्य तथा अमान्य दोनों प्रकार के चरित्रों वाला होता है–

मान्यामान्यविशेषज्ञः चेटीप्येविधः स्मृतः। (ना0 शा0– 35/58)

18.3.13 शकार

शकार नायकों में सहायक तथा असहायक दोनों ही भूमिकाओं में दृष्टिगत होते हैं, वस्तुतः यह नायक (राजा) का साला होता है, जिस कारण यह अत्यन्त लालची, धूर्त, असभ्यता से वार्ता करने वाला तथा सन्तों ब्राह्मणों, सज्जनों, संन्यासियों का स्वव्यवहार से अपकार और अपमान करने वाला होता है। रानी का भाई होने के कारण राजधन पर शकार अपना ही अधिकार समझता है, तथा यह कुलीन स्त्रियों का शोषण करने वाला होता है। वस्त्र आभूषणों से सुसज्जित रहने वाला तथा बिना कारण के क्रोध करने वाला होता है, किन्तु कूटनीति का प्रयोग करने के लिए कभी–कभी नायक इसका राज्यहित में प्रयोग करता है, यह नायक का चाटुकार और उसकी आज्ञा का आंशिक पालन करता है–

सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञःश्यालः शकार इत्युक्त। (सा0 दर्पण– 3/53)

इसप्रकार उल्लिखित पात्रों के अतिरिक्त भी नायक (राजा) के अवसरानुरूप सहायक होते हैं, जो कि अस्थायी रूप में राजकार्यों में अपना सहयोग करते हैं, किन्तु सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में देखा जाये, तो उनकी भूमिका अत्यधिक न्यून होने के कारण गणना में नहीं होती। इनकी भूमिकायें कथानकों को विस्तार देने के लिए, वर्णन की जा रही घटना या दृश्य में पूर्ण या आंशिक परिवर्तन के लिए होती है। ये चेटी, प्रतिहारी दूत एवं दूती आदि हैं।

अतः नायक के राजकार्यों सहित सामान्य गतिविधियों के सम्यक् व समयानुसार संचालन का सम्पूर्ण दायित्व उल्लिखित सहायकों का होता है, जो कि नायक के दायित्वों, उनकी अन्तःपुरीय नायिकाओं, तथा स्वास्थ्य आदि समस्त कार्यों का सेवाभाव से पालन करते हैं।

18.4 नायिका की सहायिकायें

उपर्युक्त वर्णित नानाप्रकार की नायिकाओं द्वारा कामक्रीडा या प्रेमालाप की वृत्तियों को सन्तुष्ट करने हेतु नायकों की आवश्यकता होती है। चूंकि लज्जारूप नारी का महत्वपूर्ण आभूषण है, जिसके फलस्वरूप नायिकाओं के चित्तपटल पर उठने वाली असंख्य कामुक वृत्तियों का प्रकाशन उनके द्वारा किया जाना कठिन हैं, किन्तु यह भी कतिपय नायिकाओं के सन्दर्भ में कहा जा सकता है। कुछ नायिकायें धूर्त, स्वेच्छाचारिणी तथा धनलोभ में विकृत हो जाती हैं, तथा स्त्रियों की सामान्य मर्यादाओं का भी परित्याग करती हैं।

नायिकाओं के प्रेम संदेश नायकों तक पहुंचाना, नायिकाओं की इच्छाओं का विस्तार रूप से नायकों के सम्मुख प्रकाशन करना, नायकों को उनकी विरहावस्था की स्थितियों से अवगत कराना, कामक्रीडा अथवा रति का (नायक के तैयार हो जाने पर) स्थान नियत करना, समय का निर्धारण करना, नायिकाओं की वेदना या भय के बचाव सम्बन्धी प्रकरणों पर नायक से वार्ता करके रतिकार्यार्थ उपयुक्त परिवेश उपलब्ध कराना आदि समस्त कार्य बहुत महत्वपूर्ण एवं गोपनीय प्रकृति के होते हैं। इन खास

एवं गोपनीय कार्यों के लिए नायिकायें कुछ विश्वस्त सहायिकाओं को नियुक्त करती हैं, तथा वहीं चतुर प्रकृति की इन सहायिकाओं के सहयोग से अपने प्रियतम से प्रेम एवं रमण सम्बन्धी कार्यों के संदेशो का परस्पर आदान–प्रदान करती हैं।

नायिकाओं की सहायिकायें यूँ तो बहुत सी होती हैं। कुछ तो नाटकीय कथावस्तु के आधार पर न्यून एवं क्षणिक समयावधि के लिए आती–जाती हैं, किन्तु नायिकाओं की सहायिकायें महत्वपूर्ण हैं, जो मुख्यतः नायिकाओं की सेवाओं हेतु अहर्निश नियुक्त होती हैं, तथा वे ही अति विश्वस्त होने के कारण नायिकाओं की हर परिस्थिति में सहयोगी होती है। वे निम्नवत् है–

1. दूती 2. दासी 3. सखी 4. नीच जाति की स्त्रियां 5. धाय की बेटी 6. सन्यासिनी 7. शिल्पिनी 8. प्रतिवेशी 9. नायिका (दूती आदि के वेश में) 10. अनुचरी (नृत्यांगना) आदि–

दूत्यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिंगिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृ मित्रगुणन्विता।। (दशरूपक– 2/29)

18.4.1 दूती

यह सामान्य कुलीना होती है, तथा नायिका (रानी) की आज्ञा का शीघ्रता से पालन करने वाली, नायिका के भेदों को जानने वाली, स्नेहशीलता, आलस्यविहीना, सदा नम्र रहने वाली होती है। यह सन्देशों (नायिका का नायकके प्रति एवं नायक का नायिका हेतु) का बहुत ही चतुरता से आदान–प्रदान करती हैं। प्रायः यह सन्देशों को राजा (नायक) के सहायकों (पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक,) के माध्यम से ही पहुंचाती हैं, किन्तु नायिका के आदेशानुसार गोपनीय और अनिष्ट की आशंका के संदेशों को वह स्वयं नायक(राजा) तक पहुंचाती हैं।

18.4.2 दासी

नायिका के गोपनीय भेदों की ज्ञाता, दासी होती है। नायिका प्रेम सम्बन्धी कृत्यों या रत्यादि क्रियाकलापों के सम्बन्ध में दूती तक सन्देशों का प्रेषण, दासी के माध्यम से करती हैं। यह सामान्य बुद्धि वाली होती है।

18.4.3 सखी

नायिका के अतिगोपनीय रहस्यों तथा प्रेम–व्यापार की पूर्णता के लिए नानाविध सहायता प्रेषित करने का कार्य सखी का होता है। नायिका के प्रेमालाप की सिद्धि में उसकी सखियों का सर्वाधिक महत्व है। संस्कृत नाटकों की दृष्टि से प्रेम एवं संसर्ग प्राप्ति में नायिका की सहायिका के रूप में सखी की सान्निध्यता सर्वत्र है, मुख्य रूप में श्रृंगारिक नाटकों में नायक–नायिकाओं के मिलन में सखियां सहायक सिद्ध होती हैं। नायक को आकृष्ट करने की दिशा में नायिका की सखी नानाप्रकार से अपने ही हाव–भावों तथा कटाक्षों का प्रयोग करती हैं, तथा नायक के उसके समीप आने पर वह अपनी सखी की प्रशंसा करती है, एवं नायक को अपनी सखी (नायिका) की ओर मोहित करके नायिका और नायक के एक दूसरे से प्रेम व संसर्ग की बातों से आकर्षण उत्पन्न करती है, तथा बताती है, कि आपकी अनुपस्थिति मे मेरी सखी आपके प्रेम और विरह में किस प्रकार जीवन यापन कर रही है, आप ही मेरी सखी के लिए

सुयोग्य प्रेमी हैं, इसप्रकार नायिका की सखी प्रशंसा के माध्यम से नायक को अपनी सखी हेतु सर्वविध उद्यत करने में सहायता करती है।

यथा मालतीमाधव नामक ग्रन्थ में सखी दूती का रूप धारण करके माधव के सम्मुख जाती है, और अपनी सखी मालती के प्रेम का पूर्ण दृष्टान्त एवं विरहावस्था का वर्णन करती है, कि हे माधव! हिरणी के समान नयनों वाली, मेरी सखी मालती की विरहावस्था का वर्णन मैं तुमसे किस मुख से करूं? उसकी स्थिति देखकर मेरे पास कुछ कहने लिए शब्द ही नहीं हैं, यदि मैंने इससे पूर्व कभी चन्द्रमा की कान्तिमय मूर्ति को अग्नि में जलते हुए देखा होता तो, मैं कुछ वर्णन करने की स्थिति में होती, किन्तु दुर्भाग्यवश मैंने चन्द्रकला को कभी अग्नि में जलते हुए नहीं देखा है।

किन्तु मैं इतना भान अवश्य रखती हूं, कि मेरी सखी मालती अद्वितीय सुन्दरी है, तथा सम्पूर्ण विश्व में मालती का मनोरम सौन्दर्य अमृतवत् है, परन्तु मुझे ऐसा आभास हो रहा है, कि परमब्रह्म परमात्मा की अति रमणीय कलाकृति, तुझ मूर्ख की शठ्ता के कारण यूं ही समाप्त हो जायेगी–

मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते,
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी।
इतितु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा।
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते। (मालतीमाधव)

18.4.4 कुछ स्त्रियां

ये स्त्रियां बहुत ही चालाक, धूर्त एवं धन प्राप्त करने के लिए किसी भी निकृष्ट सीमा तक जा सकती है, यदि इन्हें नायिका (रानी) का भय न हो, तो ये नायिका को भी धोखा दे सकती हैं।

नायिकाओं के प्रकार में हमने देखा कि नायिकायें कई प्रकार की होती हैं, तथा कुछ स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारिणी एवं कामलोलुपा होती हैं, वे कुछ स्त्रियों की सहायता प्राप्त करके येन–केन प्रकारेण रत्यादि सुखोपभोग की प्राप्ति करती हैं। नायिकायें, मर्यादाविहीन इन स्त्रियों से अपने नाना प्रकार के कृत्यों को साधती हैं।

18.4.5 धाय की बेटी

संस्कृत नाट्य जगत में धाय का स्थान उपमातृवत् होता है, तथा उसकी पुत्री भी नायिका की भगिनी के समतुल्य ही होती है। चूंकि यह अधिक काल तक नायिका के साथ ही पली–बढी होती है, अतः दोनों में अटूट प्रेम का होना स्वाभाविक है। वह नायिका की बहन अथवा सखीवत् उसके कार्यों में सहायक होती है। नायिका की समस्त गतिविधियों का उसे ज्ञान होता है, तथा किसी भी समय आवश्यकता होने पर धायपुत्री उसके प्रेम को गति देने में सहयोग करती रहती है। छिप–छिप कर नायिका के प्रेम व्यापार में नायक– नायिका का मिलन कराके बाहर द्वारपाल की भूमिका में नायिका का सहयोग करती है, तथा किसी के आगमन से पूर्व सचेत करती है।

18.4.6 संन्यासिनी अथवा भिक्षुकी

यह भिक्षावृत्ति करने वाली स्त्री होती है, तथा नायिका द्वारा समय–समय पर अथवा आयोजनों, त्यौहारों में इसे बहुत कुछ भिक्षा के रूप में प्रदान किया जाता है, यह

नायक के गुप्त रहस्यों को भिक्षुकी के रूप में अथवा गुप्तचरी की तरह भेद जानकर नायिका को बताया करती है। यह बहुत ही सौम्य प्रकृति की तथा बातों को गुप्त रखने में चतुर होती है।

18.4.7 शिल्पिनी

यह भी एक दासी की तरह ही सहायिका होती है। इसका कार्य नायिका के ऊपर नायक के नियन्त्रण होने पर, चित्रकारिता के माध्यम से, गुप्त बातों को बतलाना होता है। यह किसी भी प्रकरण को चित्र के माध्यम से अवगत कराने में सिद्ध होती है। महत्वपूर्ण समयों पर शिल्पिनी की सहायता नायिकाओं द्वारा प्राप्त की जाती है।

18.4.8 प्रतिवेशी

नायिकाओं द्वारा प्रतिवेशी की सहायता भी प्राप्त की जाती है। नायक का मिलन यदि स्वगृह(निवास स्थल) में सम्भव न हो, तो ऐसी अवस्था में प्रतिवेशी के निवास को मिलन स्थल के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रतिवेशी (पड़ोसन) नायिका के द्वारा उपकृत होकर पारितोषिक प्राप्त करती है।

18.4.9 नायिका (दूती के वेश में)

काम के प्रति अतिउत्साहित नायिका, दूती का वेश धारण करके पथिक के पीछे–पीछे एकान्त एवं निर्जन स्थान तक छिप–छिप कर जाती है, तथा वहां पर पथिक के सम्मुख दूती के वेश में स्वयं रति क्रीडा की इच्छुक नायिका, पथिक को सुनाते हुए कहती है–

''हे तेज बहने वाली वायु! तुम्हारे द्वारा बार–बार मेरे वस्त्रों को हरण करने का क्या तात्पर्य है, मेरा शरीर दिख रहा है, यहां पर मैं इस शरीर से किसे सन्तुष्ट करूं, मैं ग्राम से बहुत दूर अभी तो यहां अकेली हूँ।

अर्थात् यहां पर स्वयं ही पथिक को रत्यादि के लिए नायिका यह संकेत कर रही है, कि कामक्रीडा करते हुए, हमें यहां कोई नहीं देखेगा, हम ग्राम से दूर हैं, तथा वस्त्रों को हिलाकर दिखाना ही नायक को उपभोग का आमन्त्रण है :–

> **मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम्।**
> **साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका।।**

18.4.10 अनुचरी

यह नायिका की सेविका होती है। जो कि नायिका के दिशा–निर्देशों का पालन करती है। इसका भी कार्य दासी तथा दूतीवत् होता है। नायिका द्वारा स्वानुचरी से अनेकों कार्य आवश्यकतानुरूप लिये जाते हैं, यह नायिका की समीपस्थ सेविका होती है।

18.5 नाट्यवृत्तियां

नाट्यविधाओं में नायिका तथा नायक के व्यापार विशेष ही वृत्तियां कहलाती हैं। संस्कृतसाहित्य की परम्परा के आधार पर वृत्तियां मुख्य रूप में तीन मानी गयी हैं, जो कि कैशिकी, सात्त्वती, एवं आरभटी कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अर्थवृत्तियां

स्वीकार नहीं की गयी हैं, किन्तु नाटकों के तारतम्य के आधार पर चौथी भारती नामक अर्थवृत्ति भी मानी गयी है—

विलासविन्यासक्रमोवृत्तिः। (काव्यमीमांसा)

आचार्य उद्‌भट के नाट्‌यमतावलम्बियों के द्वारा एक अलग से पंचमवृत्ति भी स्वीकार की गयी है, परन्तु वह धनंजय धनिकाादि द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी।

इसप्रकार कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी एवं भारती चार प्रकार की नाट्‌यवृत्तियां होती हैं—

तद्‌व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः श्रृंगारचेष्टितैः।। (दशरूपक— 2/47)

18.5.1 कैशिकीवृत्ति

नाटकीय कथावस्तु के समस्त पात्रों द्वारा मनोरम वेशभूषा से सुसज्जित होना, इस वृत्ति की मुख्यता है। क्योंकि वेशभूषा से सुन्दर दिखने वाले पात्रों के द्वारा ही सम्यक् रूप से नृत्य, गायन, सम्भव है, तथा स्पष्ट ही है, कि कैशिकीवृत्ति की समस्त श्रृंगारिक गतिविधियों की सशक्तता के लिए रूप, सौन्दर्य तथा वस्त्राभूषण प्रमुख हैं। समस्त श्रृंगारिक क्रिया—कलापों का चित्रण कैशिकीवृत्ति का ही विषय है। यह भी मुख्य रूप में चार प्रकार की होती है—

1. नर्म 2. नर्मस्फिंज 3. नर्मस्फोट 4. नर्मगर्भ

नर्मतत्स्फिंजतत्स्फोटतद्‌गर्भैश्चतुरंगिका।(दशरूपक— द्वि0 प्र0)
श्रृंगारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।। (सा0 दर्पण— 6/13)

1. **नर्म**— हास्यमिश्रित विलास या परिहास को नर्म कहा जाता है। इस प्रकार हास—परिहास को कई अन्य रूपों में भी व्यक्त किया गया है। कभी हास्य श्रृंगारिक क्रियाओं के साथ, कभी शुद्ध रूप में तथा कभी रसों के सम्मिश्रण से प्राप्त होता है। नर्म के भेदों का निम्नवत् विभाजन किया गया है—
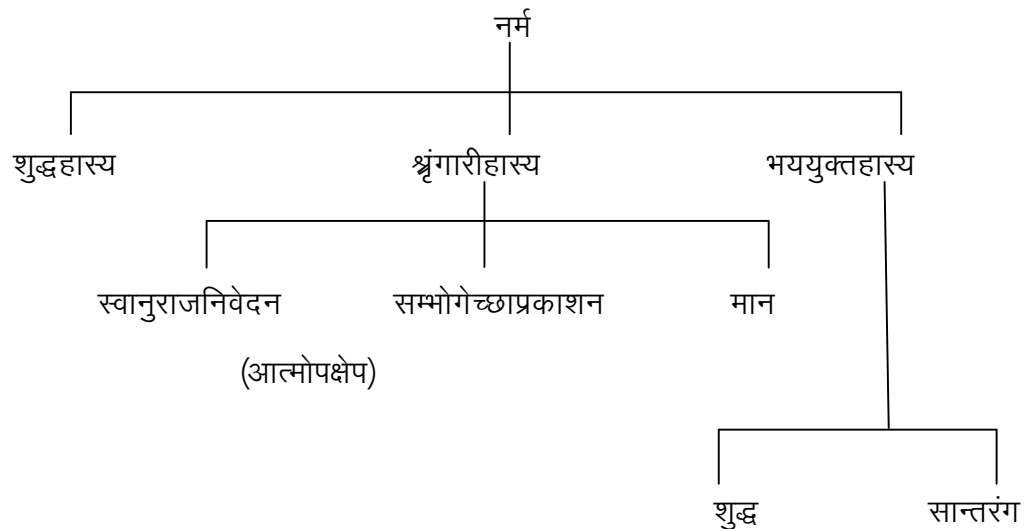
अतः इस प्रकार शुद्ध हास्य का एक भेद, श्रृंगारी हास्य के तीन भेद, भययुक्त हास्य के दो भेद सहित कुल छः भेद नर्म के स्वीकृत किये गये हैं। क्रियाकलापों के प्रकाशन के साधन, वाणी वेशभूषा एवं चेष्टा के आधार पर 3X6=18 भेद प्राप्त होते हैं–

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम्।।
हास्येनैव सश्रृंगारभयेन विहितं त्रिधा।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः श्रृंगार्यपि त्रिधा।।
षुद्धमंगं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम्।। (दश0– 2/48–50)

2. **नर्मस्फिंज**–नायक–नायिका द्वारा परस्पर एक दूसरे के प्रति सबसे पहले आकर्षित करने वालेश्रृंगारिक वचनों का प्रयोग किया जाता है, तथा प्रथम बार की कामक्रीडा के सुख का पूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं, किन्तु रत्यादि क्रिया के समापन के पश्चात् लौकिक अथवा अलौकिक (पितृ देव) के द्वारा हमें देख तो नहीं लिया गया, इस प्रकार से भयभीत होते हैं। उसे नर्मस्फिंज कहते हैं –

नर्मस्फिंजः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे।(दशरूपक–द्वि0 प्र0)

3. **नर्मस्फोट**–जहां नाटकीय कथावस्तु में सात्विक भावों का आंशिक प्रभाव हो, तथा अन्तिम (समापन) भयादि से हो, नायिका–नायक के भावों में अल्प–अल्प स्फूर्तता प्रतीत हो, एवं पूर्ण रस की अभिव्यक्ति न की जा सके, वहीं नर्म स्फोट होता है।

उदाहरणार्थ– मालतीमाधव में मकरन्द के द्वारा नायक माधव के अलसादि सात्विक–भावलेश वर्णित करना, तथा स्वयं का मालती के सन्दर्भित अनुराग को व्यक्त करना। यथा–

इसकी गमनावस्था में प्रमाद दृष्टिगत हो रहा है, आंखों में सूनापन दिखायी दे रहा है, श्वास–प्रश्वास की गति निरन्तर बढी हुई है। उपरोक्त समस्त संकेतों से प्रतीत होता है, कि यह कामक्रीडा का वेग अथवा रत्यादि की अति उत्सुकता है, क्योंकि उपर्युक्त संकेतों से अन्य किसी पृथक् कारण की प्रतीति नहीं देखी जा सकती है, तथा सत्य ही है, कि कामदेव ने अपनी लीलाओं का मानवों पर इतना प्रभाव कर दिया, कि यौवन काल में प्राकृतिक सौन्दर्य एवं रमणीय दृश्य भी तरुण–तरुणियों को अच्छे नहीं लगते, तथा वे कामक्रीडा की चाह में सदैव ही अधीर होते हैं–

गमनमलसं शून्या दृष्टिःशरीरमसौष्ठवं,
ष्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं,
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति धीरताम्।।(मालतीमाधवम्)

4. **नर्मगर्भ**– नायक जहां पर अपने कार्यों को पूर्णता प्रदान करने के लिए, बिना किसी सहायक को सूचित किये, अति गोपनीय रूप में छिप–छिप कर क्रियाकलापों में रत हो, वह नर्मगर्भ कहलाता है। कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत यह स्थिति हासयुक्त अथवा हास्यविहीन दोनों अवस्थाओं में हो सकती है–

द्नननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।
अंगैसहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी।। (दशरूपक– 2/52)

नायक अपनी ज्येष्ठा अथवा कनिष्ठा दोनों नायिकाओं को एक ही स्थल पर बैठे हुए देखता है तो, वह धृष्ट नायक सर्वप्रथम अपनी ज्येष्ठा नायिका की आंखे अपने हाथों से ढककर (ताकि कनिष्ठा से किये गये प्रेमाचरण का पता ज्येष्ठा को न चले) अपनी कनिष्ठा नायिका के कपोल पर चुम्बन लेता है, जिससे उसका हृदय एवं कपोल प्रेमालाप हेतु आन्दोलित हो उठता है–

दृष्टवैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा–
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वकितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा–
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।। (अमरुशतक)

18.5.2 सात्त्वती वृत्ति

संस्कृत नाटकों में जहां सत्वतत्व की बहुलता हो, किसी भी प्रकार से कथावस्तु शोकयुक्त न हो, सर्वांग हर्षादि परिवेश में अभिमंचित हो, पराक्रम, स्नेह मधुरादि भावों की सर्वत्रअवस्था हो, अभिनय में वीररस, रौद्र तथा अद्भुत रसों का प्राचुर्य तथा मुख्य रूप में श्रेष्ठ वाणी और शरीरगत हाव–भावों से अभिनय की उत्तमता देखी जाती है, वहां सात्त्वती वृत्ति होती है। करूणा एवं श्रृंगारादि भावों की अल्पता, पुरुषवर्ग की बहुलता, सात्त्वती वृत्ति में दृष्टिगत होती है। इस वृत्ति को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया गया है–

1. संलाप 2. उत्थापक 3. संघात्य (संघात) 4. परिवर्तक।

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्थां सांघात्यः परिवर्तकः।। (दशरूपक– 2/53)

1. **संलाप**–यह सात्त्वती वृत्ति का वह अंग है, जहां कथावस्तु में वर्णित दो परस्पर विरोधी पक्षों की साहसिक व अहंकारी वार्तालाप में नानाप्रकार के भावों से युक्त गम्भीर उत्तर–प्रत्युत्तर देखे जाते हैं, संलाप कहलाते हैं–

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः।(दशरूपक– द्वि0 प्र0)

यथा– राम तथा परशुराम के मध्य वार्ता के अंश–

राम– भगवान कार्तिकेय को आपके द्वारा युद्ध में परास्त करने के पश्चात् तथा बहुकाल तक आपके द्वारा भगवान शिव के शिष्यत्व को स्वीकार करने के फलस्वरूप ही शिव द्वारा यह परशु आपको प्रदान किया गया।

परशुराम– सुनो राम! शस्त्रों के प्रयोगाभ्यास काल में मैंने देवताओं की सेना सहित कार्तिकेय को परास्त किया था, इस पर भगवान शिव ने मुझे गले लगाया, तथा मुझे प्रसन्न होकर यह परशु दिया–

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहेगणानां,
सैन्येवृतो विजित एव मया कुमारः।
एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः,
प्रासादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे।। (महावीर चरित)

2. **उत्थापकः**—नाटकीय दृश्यों में जहां, एक पात्र क्रोधित होकर प्रतिपक्षी पात्र को युद्धार्थ आन्दोलित किये जाने वाले वाक्यों को कहे, तथा प्रतिपक्ष का पात्र युद्ध अथवा संघर्ष करने के लिए खड़ा होकर उसका युद्धामन्त्रण स्वीकार करके उद्यत हो, वही उत्थापककहलाता है—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम्। (दशरूपक— 2/53)

महावीरचरित में परशुराम, भगवान से कह रहे हैं, कि आप मुझे दृष्टिगत हो रहे हैं, इसका तात्पर्य किस प्रकार से व्यक्त करुं। यह आश्चर्य मांनू, या आनन्दित होऊं, दुःख या खेद व्यक्त करुं, क्योंकि मैं विषयेत्तर होने के कारण किसी का विषय नहीं हूं, फिर भी भगवान शिव का प्रसन्न होकर प्रदान किये गये यह धनुष तुम्हारे हाथों जृम्भित हो—

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा,
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्सांगत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा वहुव्याहृतै—
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये वाहौ धनुर्जृम्भताम्।। (वीरचरित)

3. **सांघात्य**—सात्त्वती वृत्ति के सांघात्य (संघात) प्रकार में, मन्त्रणा के प्रयोग द्वारा, देवताओं के आह्वान द्वारा अथवा धन आदि मूल्य चुकाकर अर्थात् षड्यन्त्रपूर्वक प्रतिपक्ष में फूट डालकर विजय की ओर बढना संघात कहलाता है—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः संड्घभेदनम्। (दशरूपक—द्वि0 प्र0)

परपक्ष का भेदन मन्त्रणा एव बुद्धिचातुर्य से किया जाता है। जैसे चाणक्य द्वारा मुद्राराक्षस में अपनी बुद्धि के बल से राक्षस के सहयोगियों में फूट डाल दी गयी थी। मुद्राराक्षस में ही पर्वतक के मूल्यवान् आभूषणों का राक्षस के पास पहुंचना, तथा मलयकेतु के साथ ही उसका भेदन होना, यह अर्थशक्ति का उदाहरण है, तथा दैवशक्ति जैसे भगवान राम की दिव्य शक्ति से ही विभीषण का रावण से भेद हो जाना।

4. **परिवर्तक**— कथावस्तु में जब कोई पात्र चुनौतीपूर्ण किसी कार्य में पहले तो प्रवृत्त होता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् उस का वहीं पर (अधूरे कार्य में ही) त्यागकर किसी अन्य अप्रधान कार्य में प्रवृत्त हो जाता है, उसे परिवर्तक कहते है—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः।(दशरूपक— 2/55)

महावीरचरित में भगवान राम के साहस, शौर्य तथा युद्ध में पराक्रम को देखकर आश्चर्यचकित हुए परशुराम ने राम से युद्ध नहीं किया, बल्कि उनको हृदय से लगाने की इच्छा व्यक्त की, यह परिवर्तक कहलाता है।

परशुराम का यह कथन है, कि गणेश के दन्तमूसलों के प्रहार से दाग पडे हुए, तथा कुमार कार्तिकेय के बाणों द्वारा वक्ष में नानाविध चोटों के होने पर भी मैं अत्यधिक रोमांचित हूं,तथा हे राम! तुम्हे गले लगाना चाहता हूं—

हेरम्वदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति।
वक्षो विशाखविशिखव्रणलांछनं मे।

रोमांचकंचुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम्।। (महावीर चरित)

18.5.3 आरभटी वृत्ति

जिस वृत्ति के अन्तर्गत छल, कपट, अहंकार, कुटिलता, असत्यभाषण, मदोद्भ्रान्त, गहन षडयन्त्र, मायाजाल आदि की प्रचुरता नाट्यकथावस्तुओं में देखी जाती है। वह आरभटी वृत्ति कहलाती है। यह मुख्यतः चार प्रकार की होती है–

1. संक्षिप्तिका 2. सम्फेट 3. वास्तुत्थापन 4. अवपातन।

एभिरंगैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
संक्षिप्तिका स्यात्सम्फेटो वस्तूत्थापनावपातने। (दशरूपक– 2/56)

1. **संक्षिप्तिका**–जहां शिल्प निर्मित वस्तुओं का प्रयोग बहुलता से हो, तथा नाटकीय कथावस्तु का संक्षेपण हो,(तथा प्रधान नायक की निवृत्ति के पश्चात् ,द्वितीय नायक द्वारा उस भूमिका में नायकत्व का निर्वहन करना) वह संक्षिप्तिका कहलाती है–

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः।
पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः। (दशरूपक– 2/57)

मृत्तिका, लकडी वृक्षपल्लव, चर्मादि से गृहादि वस्तुओं की निर्मिति संक्षिप्तिका कहलाती है। जैसे राजा उदयन द्वारा किलिंजहस्ति का प्रयोग किया गया। नायक की निवृत्ति के पश्चात् अन्य की नायकत्व की भूमिका।

यथा– राम तथा बाली के युद्ध में बाली की मृत्यु के पश्चात् नायकत्व भूमिका में सुग्रीव का होना। उदयनचरित/रामायण/किष्किन्धा काण्ड

2. **सम्फेट**–कथावस्तु में जहां दो पात्र क्रोधावेश में परस्पर युद्ध करने के ध्येय से उत्तेजित होकर आक्षेप लगाते हुए प्रहार करते हैं। वह सम्फेट कहलाता है–

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः। (दशरूपक– 2/58)

रामायण में इन्द्रजीत तथा लक्ष्मण के युद्ध में अधिक्षेप तथा मालतीमाधव में माधव एवं अघोरघण्ट की क्रोधावस्था में अधिक्षेप करना।

3. **वस्तूत्थापन**–इस वृत्तिभेद में लगभग सभी रसों का अन्तर्भाव देखा जाता है, इसमें पराश्रय का अभिनय एव भययुक्त वातावरण का समन्वय होता है, तथा मंत्रों के आधार पर मायाभास से वस्तुओं की उत्थापना करना ही वस्तुत्थापन कहा गया है–

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुस्थापनमिष्यते। (दशरूपक–द्वि0 प्र0)

यथा–यह क्या हुआ, कि समस्त विश्व के अंधेरे पर विजय प्राप्त करने वाली, सूर्य की प्रगाढ रश्मियों के होते हुए भी आकाश में अंधकार व्याप्त है, एवं सिरों के कटे हुए शरीरों से बहते हुए रक्त से अपनी भूख को मिटाकर ये सियारिनें चिल्ला रहीं हैं। इनके चिल्लाने से ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे ये अपने रक्तमुखों से अग्नि उगल रही हैं–

जीयन्ते जयिनोऽपि सांद्रतिमिर व्रातैवियदव्यापिभि–
भस्विन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादभी।
एताश्चोग्रकवन्धरनन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा।
मुंचत्थाननकन्दरानलमितस्तावाऽऽरवाः फेरवाः। (उदात्तराघव)

4. **अवपातन**–नाटकीय रंगमंच में पात्रों का अत्यन्त भययुक्त वातावरण, प्रसन्नता, अतिशीघ्रता से रंगमंच में आने तथा जाने से भगदड होना, ही अवपातन कहलाता है–

अवपातस्तु निष्कामप्रवेशत्रासविद्रवैः। (दशरूपक– 2/59)

घोडों के अस्तबल से वानर के छूट जाने से अन्तःपुर में भगदड का वर्णन रत्नावली नाटिका का है–

गले के स्वर्णहार को तोडकर, अवशेष हार को ले जाता हुआ, पैरों में बंधे हुए किंकिणी को बजाते हुए, वह वानर भागता हुआ, महल के कई द्वारों को पार करता हुआ, राजा के कक्ष तक पहुंचने वाला है, जिससे सभी भयभीत अवस्था में हैं। अन्तःपुर के नपुंसक लज्जा छोडकर भाग रहे हैं, बौने, कुबडे, किरात् आदि अपने अपने छुपने के स्थान ढूंढ रहे हैं, तथा सम्पूर्ण राजमहल के कर्मचारी एवं पशु भयाक्रान्त हैं।

यही अवपातन है–

कण्ठे कृत्वाऽवशेषं कनकमयमधः श्रृंखलादामकर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरण विलत्किंकिणीचक्रवालः।
दत्तातंको गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवंग प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः।।
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा–
मन्तः कंचुकिकंचुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जानीचतयैव यान्ति षनकैरात्मेक्षणाशंकिनः।। (रत्नावली नाटिका)

18.5.4 भारतीवृत्ति

नाट्यजगत में जिस वृत्ति के द्वारा वाणी को प्राधान्यता प्रदान की गयी है, वह भारतीवृत्ति कहलाती है। यह शब्दवृत्ति भी कहलाती है। तथा इसका प्रयोग नाटकीय अभिमंचन में पुरुष पात्रों द्वारा किया जाता है। यह वृत्ति रसादि में प्राप्त होती है।कहीं कहीं हास–परिहास भारतीवृत्तिपरक होते हैं, इसके चार भेद है–**वृत्तिः सर्वत्र भारती।** (दशरूपक– द्वि0 प्र0)

1. प्ररोचना 2. आमुख 3. वीथी 4. प्रहसन ।

प्ररोचना–नाट्यभेद एवं नाट्यभेदकार की प्रशंसा के लिए कहा जाता है, जिसमें प्रशंसा युक्त शब्दों से नाट्यप्रेक्षकों को देखने के लिए आमन्त्रण दिया जाता है।

आमुख– का तात्पर्य प्रस्तावना से है, जिसमें कथावस्तु का सम्यक् उपस्थापन सूत्रधार द्वारा किया जाता है। वीथी तथा प्रहसन नाट्यभेद हैं, अतः इनका वर्णन आगे किया जायेगा।

अतः उपरोक्त चारों नाट्यवृत्तियों में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग श्रृंगार में, सात्त्वती का वीर में, आरभटी का रौद्र में एवं वीभत्स रस में किया जाता है। शब्दवृत्ति होने के कारण भारती का सभी रसों में प्रयोग होता है। (दश0– द्वि0 प्र0)

18.6 सारांश

संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परम्परा में किसी भी कथावस्तु में नायक–नायिका का स्थान प्रधान होता है, नायक राजा तथा नायिका रानी होती है। नाट्यकथा वस्तुऐं नायक–नायिका के इतस्ततः ही घूमती है।

नायकों द्वारा अपने राज्य को सम्यक् रूपेण संचालित करने की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण सहायकों की आवश्यकता होती है उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है जिसमें अनुनायक, उपनायक (पीठमर्द), विट, चेट, विदूषक, मन्त्री, पुरोहित (यज्ञिक, वेदवेता, तपस्वी), सचिव, प्राङ्विवाक, कुमारामात्य, राजदूत, सेनापति आदि होते हैं। साथ ही अवर सहायकों में वर्षधर, कंचुकी, शकारादि, भी राजकार्यों में नायक (राजा) का किस–किस प्रकार सहयोग करते हैं, इसका वर्णन किया गया है।

तद्वत्नायिकाओं के द्वारा करणीय राजकार्य एवं निजी कार्यों हेतु जिन सहायिकाओं की आवश्यकता होती है, उनमें मुख्यतः दूती, दासी, नायिका की प्रिय सखियां,नीच जाति की स्त्रियां, धाय की बेटी, संन्यासिनी, शिल्पिनी, प्रतिवेशी आदि मुख्य हैं।

इकाई के तृतीय बिन्दु में नाट्यवृत्तियों का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया है, चार प्रकार की नाट्यवृत्तियों (कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी एवं भारती) का सांगोपांग उदाहरणों सहित वर्णन किया गया है।

नाटकीय कथावस्तु के आधार पर रंगमंचीय अभिनय की दृष्टि से वृत्तियों का स्वरूप सुस्पष्ट अभिलिखित है।

18.7 शब्दावली

1. रक्तलोक – लोगों को प्रसन्न करने वाला।
2. रुढवंश – श्रेष्ठ वंश मे जन्म लेने वाला।
3. महासत्व – शोक क्रोधादि के वशीभूत न होने वाला।
4. निगूढाहंकार – अहंकार अथवा स्वाभिमान हो किन्तु विनम्रता से दबा हो।
5. दर्प – शौर्य अथवा शक्ति का घमण्ड।
6. पीठमर्द – राजा का सहायक (पताकानायक)।
7. कामार्ता – कामपीडित।
8. धात्रेयी – धाय की पुत्री (उपमातृसुता)।
9. शिल्पिनी – चित्रकारिणी।
10. लिंगिनी – भिक्षुकी, सन्यासिनी, तपस्विनी।
11. प्रतिवेशी – पडोसन।
12. अल्पालाप –कम वार्ता करने वाला।

13. सहास्य – हास्य सहित।
14. निष्काम – रंगमंच से पात्र का चले जाना।
15. गणिका – वेश्या।
16. भृत्य – अनुचर, भारवाहक।
17. दृढवत् – प्रण किये गये वचनों का पूर्ण निर्वहन करने वाला।
18. अविकत्थन – स्वयं की प्रशंसा न करने वाला।
19. द्विजादिक – ब्राह्मण, वैश्य, मन्त्रीपुत्र।
20. भात्सर्य – ईर्ष्या।
21. पान्थ – पथिक(राहगीर)।
22. वामन – बौना।
23. कुब्ज – कुबडा।
24. महादेवी –नायिका(रानी)
25. नर्मस्फिंज – प्रेम प्रकाशक, प्रेम का ज्वर।
26. नर्मस्फोट – प्रेमाभिव्यक्ति।
27. नर्मसचिव – विमर्श में सहायक, क्रीडा सचिव।
28. नर्मद्युति – प्रसन्न, हास–परिहासादि।

18.8 बोध प्रश्न

1. नायक किसे कहते हैं, भेदपूर्वक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए?
2. नायकों के सहायक कौन कौन होते हैं, कुछ महत्वपूर्ण सहायकों के कार्यों का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक कीजिए।
3. नायिका से आप क्या समझते हैं? नायिकाओं के मुख्य प्रकारों का प्रतिपादन कीजिए।
4. नायिकाओं की सहायिकाऐं कौन कौन सेकार्यों में सहयोग प्रदान करती है?
5. नायिकाओं की मुख्य सहायिकाऐं कौन कौन होती हैं,कुछ मुख्य सहायिकाओं के नाम एवं कार्यों का विवरण दीजिए।
6. नाट्यवृत्तियों से आप क्या समझते है?नाट्यपरम्परा में इसकी उपयोगिता क्या है, उदाहरणपूर्वक स्पष्ट कीजिए।
7. नाट्यवृत्तियों के भेद लिखिए, तथा सभी का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।
8. ''संस्कृतनाटकों की रंगमंचीयपरम्परा'' शीर्षक पर स्वविचार लिखिए।

18.9 सन्दर्भित पाठ्य पुस्तकें/सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दशरूपक, आचार्य धनंजय कृत– व्याख्याकार डा0 भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी– 1988

2. संस्कृतरूपकों में पूर्वरंगविधान– डा0 रामप्रमोल कुमार, शिवालिक प्रकाशन, 27/06 शक्तिनगर, दिल्ली–2010
3. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ शालिग्राम शास्त्री– मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी–1992
4. दशरूपक, आचार्य विश्वनाथ– डा0 बैजनाथ– मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी–1994
5. महावीर चरित– आचार्य रामचन्द मिश्र– चौखम्भा विद्याभवन चौक वाराणसी–1955
6. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक– हजारी प्रसाद द्विवेदी– चौखम्भा विद्याभवन चौक वाराणसी– 1970

इकाई 19 नाटक के आवश्यक अंग

इकाई की रूपरेखा

19.1 उद्देश्य

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- संस्कृत नाटकों की परम्परा में नाटक के मुख्य तत्वों के बारे में बतायेगें।
- नाटक के आवश्यक अंगों के रूप में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य का उदाहरण सहित उल्लेख कर सकेंगे।
- नाटक में प्रयुक्त पॉच प्रकार की कार्यावस्थाओं का उदाहरण सहित वर्णन कर पायेंगें।
- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श आदि नाटकी की सन्धियों का उदाहरण सहित वर्णन कर सकेंगें।
- विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार आदि का वर्णन कर पायेंगें।
- नाटक में विभिन्न प्रकार के नायक तथा नायिकाओं के भेद बताते हुए उनको पारिभाषित कर सकेंगें।

19.2 प्रस्तावना

इस इकाई में नाटक के आवश्यक अंगों का सांगोपांग वर्णन प्रस्तावित है। इस आधार को ध्यान में रखते हुए नाट्य–साहित्य में नाटकों के अभिमंचन के प्रायः सभी मुख्य तत्वों जैसे– नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास, अर्थप्रकृतियों के भेदोपभेद, कार्यावस्थाओं का विवेचन, प्रतिपादन के साथ–साथ सन्धि–सन्ध्यंगों व अर्थोपेक्षकों का भेदो–प्रभेदों का वर्णन किया जाना है, साथ ही नायक– नायिकाओं का सामान्य परिचय भी प्रतिपादित किया जाना है।

नाटककार अपने नाटक के रचनाकाल में मुख्यरूप से वर्तमान सन्दर्भों व सामाजिक व्यवस्थाओं के बारे में ही वर्णन करता है। दर्शकों द्वारा रंगमंच पर मंचन होने वाले नाटकों के प्रति आकर्षण बढने से धीरे–धीरे नाट्य–साहित्य का परिष्कार होता गया, तथा नाट्य व्यवस्थायें नित्य नवीनता को धारण करती गयी।

यह सर्व विदित है, कि संस्कृत नाटककारों द्वारा दसवीं शती तक उत्कृष्ट नाटकों का निर्माण किया गया, जिनकी अभूतपूर्व कीर्ति प्रसारित हुई, जो पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के लिए भी ज्ञानार्जन का मुख्य आधार बनी।

संस्कृत नाटकों की रचना मात्र पढने के लिए नहीं हुई, बल्कि अभिनय के माध्यम से समाज तक विद्वान् आचार्यों के ज्ञान–संदेशों को पहुंचाने के लिए हुई है, तथा नाटकों के प्रशंसक केवल सामान्य जन ही नही थे बल्कि विद्वान, आचार्य, राजा, मन्त्री, सन्त–संन्यासी आदि नाटकों के रसास्वादन से आनन्द की प्राप्ति करते रहे हैं। भारतवर्ष का ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां पर नाटकविधा का प्राबल्य न रहा हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि संस्कृत नाटकों की रचना तथा नाट्यशालाओं में अभिमंचन लोककल्याणार्थ रहा है। जिसके मुख्य तत्वों का उल्लेख इस इकाई में किया जायेगा। नाटकीय कथावस्तु के मंचन में जो भी आवश्यक अंग–उपांग आचार्यों द्वारा निर्धारित किये गये हैं, यहां उन सभी का वर्णन किया जाना अभिधेय है।

19.3 नाटकों के मुख्य तत्व

19.3.1 अर्थप्रकृतियाँ

नाटकीय कथावस्तु में अभिनेता (नायक) की मानसिक स्थिति एवं कथा की विकास यात्रा का मुख्य सम्बन्ध अर्थप्रकृति को कहा जाता है। अर्थप्रकृतियों का तारतम्य कथा के मुख्य हेतुओं से होता है। संस्कृत नाटकों के क्रम के अनुसार अर्थप्रकृति आदि का वर्णन कथा तथा रस के सम्यक् परिपाक के लिए होता है। लक्ष्य सिद्धि के कारणों को ही अर्थप्रकृति कहते हैं। नाट्यसाहित्यानुरूप अर्थप्रकृतियां निम्नवत् पांच प्रकार की होती है–

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा।
अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिता।।

19.3.1.1 बीज

नाटक के प्रारम्भ में सूक्ष्म तथा धीरे धीरे आगे बढते हुए, नानाविध विस्तृत स्वरूप वाले इतिवृत्त के प्रयोजन का कारण बीज कहा जाता है। जैसे बीज अंकुरण के बाद वृक्ष का रूप धारण करता है, और फलों का प्रदाता होता है। उसी प्रकार बीज भी आधिकारिक कथावस्तु को प्रयोजन तक पहुंचाता है–

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा। (दश0– 1/17)

19.3.1.2 बिन्दु

नाटक में कथा के प्रारम्भ से समापन तक कथा को योजित करने वाले अवान्तर भाग को बिन्दु कहते हैं–

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्। (दश0– 1/17)

19.3.1.3 पताका

कथा की विकास यात्रा में पताका का अत्यन्त महत्व है। प्राच्यकाल में विजययात्रा में पताका के सान्निध्य में सेनायें चलती थी, अतः पताका भी नाटकों के महत्वपूर्ण भाग के रूप में समस्त कथावस्तु का प्रकाशन करते हुए नायकवत् मुख्य होती है। आचार्य धनंजय ने **''सानुबन्धं पताकाख्यम्''** कहा है। यथा रामायण में सुग्रीव एवं विभीषण का समस्त क्रियाकलाप पताका है, जो राम के मुख्य सहायक के रूप में पोषण करती है।

19.3.1.4 प्रकरी

अल्प प्रासंगिक कथायें प्रकरी कहलाती हैं, इसकी सीमा एक ही प्रदेश तक सीमित होती है। जो मुख्य कथा के साथ थोडी ही दूर तक होती है–

प्रकरी च प्रदेशभाक्। (दश0– 1/13)

आचार्य भरत के अनुसार अनुबन्धहीन तथा परार्थ प्रयोजन की कामना को प्रकरी कहते हैं।–

फलंप्रकल्पते यस्याः परार्थायैव केवलम्।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विर्निदिशेत।।(ना0शा0– 19/25)

अभिनवगुप्त के अनुसार– परस्पर एक दूसरे के लिए (कार्य के बदले कार्य करने की स्थिति) कार्य करने का अनुबन्ध न होना ही प्रकरी होता है –

''यस्य सम्बन्धिवृत्तं संविदनुसन्धानं परस्य प्रयोजनसंपत्तये भवदापि सप्रयोजनं संपादयति''यथा रामायणस्थ जटायु तथा शबरी के कथानक।

19.3.1.5 कार्य

यह अर्थप्रकृति प्रत्येक नाटक के अनिवार्य अंगों में से एक है। आधिकारिक कथावस्तु में प्रधान, प्रकरी एवं पताकादि नायकों के सहायक अचेतन पदार्थों का प्रयोग देखा जाता है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ काम) का समस्त क्रियाकलाप ही 'कार्य' कहा गया है।

आचार्य धनंजय के अनुसार धर्म, अर्थ कामादि (त्रिवर्ग) का कार्य एवं प्रयोजन एक ही है, इसमें कोई भेद नहीं है –

कार्यत्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।(दश0– 1/16)

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जिस प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए समस्त क्रिया–प्रक्रिया प्रारम्भ की गई है, तथा जिसकी प्रयोजन सिद्धि के लिए ही समापन होता है। वही कार्य है –

''अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निवन्धनः। समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संगतम्।''

19.3.2 कार्यावस्थाएं

नाट्याचार्यों के अनुसार फल की इच्छा के लिए नायकादि के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य के प्रसार की मुख्य पांच अवस्थायें होती हैं, 1. आरम्भ 2. यत्न 3. प्राप्त्याशा 4. नियताप्ति 5. फलागम आदि का दशरूपक निम्नवत् में वर्णन किया गया है –

अवस्थाः पंचकार्यस्य प्रारब्ध फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः।। (दश0– 1/19)

उपरोक्त कार्यावस्थाओं का सम्बन्ध नायक की मानसिक स्थिति से है।

19.3.2.1 आरम्भ

प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिज्ञासा का होना ही आरम्भ कहा गया है। अर्थात् फल की प्राप्ति के विषय में उत्कण्ठा का अनुकूल व्यापार आरम्भ कहलाता है –

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। (दश0– 1/20)

19.3.2.2 प्रयत्न

प्रयोजन अथवा लक्ष्य की सिद्धि न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए और भी सतर्क एवं मनोयोग से प्रयास करना प्रयत्न कहलाता है –

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। (दश0– 1/20)

19.3.2.3 प्राप्त्याशा

जहां प्रयोजन(फल) की सिद्धि के समस्त प्रक्रमो के होने के बाद भी फल सिद्धि में विघ्न या शंका रहती है, वह प्राप्त्याशा कहा गया है –

उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः। (दश0– 1/21)

19.3.2.4 नियताप्ति

जब किसी भी प्रकार के विघ्न की सम्भावना न रहे, एवं फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, तो वह नियताप्ति कहलाती है–

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता। (दश0– 1/21)

नाट्यदर्पण के अनुसार किये गये प्रयत्नों (उपायों) की सिद्धि से कार्यप्राप्ति का होना नियताप्ति है–

नियताप्तिरुपायानां साफल्यात् कार्यनिर्णयः। (ना0 द0– 1/41)

19.3.2.5 फलागम

प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि को फलागम कहते हैं–

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः। (दश0– 1/22)

नाट्यदर्पण में नायक के इच्छित फल की प्राप्ति को फलागम कहा गया है–

साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नाकस्य फलागमः। (दश0– 1/42)

19.3.3 सन्धियाँ

आचार्य धनंजय के अनुसार पंच कार्यावस्थायें एवं पंच अर्थप्रकृतियां जब परस्पर मिलती हैं, तो वह सन्धि होती है। अथवा फल से युक्त होने पर किसी अन्य फल के साथ सम्बन्धित होना सन्धि कहलाता है –

अन्तरैकार्थसम्बन्धः संधिरेकान्वये सति। (दश0– 1/23)

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैक प्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः। (दश0– 1/35 अव0 टी0)

आचार्य धनंजय ने उपरोक्त का सामंजस्य निम्नवत् स्थापित किया है–

आरम्भ	–	बीज	–	मुख सन्धि
प्रयत्न	–	बिन्दु	–	प्रतिमुख सन्धि
प्राप्त्याशा	–	पताका	–	गर्भ सन्धि
नियताप्ति	–	प्रकरी	–	विमर्श सन्धि
फलागम	–	कार्य	–	निर्वहण सन्धि

अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः।। (दश0– 1/22)
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।। (दश0– 1/24)

मुख, प्रतिमुख, गर्भ अवमर्श तथा निर्वहण सन्धियों में से आचार्य धनंजय ने अवमर्श एवं विमर्श नामक सन्धियों का निर्माण प्रकरी नामक अर्थप्रकृति एवं नियताप्ति रूपी कार्यावस्था के संयोग से मानी है। प्रकरी आनुषंगीय कथावस्तु है। मुख्य कथा के उपकारक रूप गर्भ सन्धि का प्रयोग यदा–कदा होता है, यथा– रामायण में शबरी का कथानक प्रकरी है, तथा इसका विस्तार पताका कथावस्तु, जो कि सुग्रीव की है, वहां तक है, यही तक गर्भ सन्धि भी है। सन्धियां निम्नवत् वर्णित हैं–

19.3.3.1 मुख सन्धि

आचार्य धनंजय के अनुसार जहां बीजों का उद्‌भव हो, तथा अनेकों फलों व रसों का सम्यक् निष्पंदन का माध्यम हो, वह मुख सन्धि कहलाती है। बीजारम्भ समन्वय से इसके बारह भेद अंगरूप स्वीकृत किये गये हैं – उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्‌भेट भेद, करण, आदि बारह अंग बीज (अर्थप्रकृति) तथा आरम्भ (कार्यावस्था) के संसूचक हैं–

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थ रससम्भवा।।
अंगानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।
उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।।

उद्‌भेदवेदकरणान्यन्वर्यान्यथं लक्षणम्। (दश0– 1/24–26)

19.3.3.2 प्रतिमुख सन्धि

मुख सन्धि में स्थित बीज का कुछ आंशिक प्रयोजन रूप में तथा कुछ अप्रयोजन रूप में उत्पन्न होना, प्रतिमुख सन्धि होता है। बिन्दु (अर्थप्रकृति) तथा प्रयत्न (कार्यावस्था) के संयोग से तेरह अंग होते हैं। जो विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्सास तथा वर्णसंहार हैं। जिसमें परिसर्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास तथा पुष्पादि अंग प्रधान हैं–

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्‌भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादंगान्यस्य त्रयोदश।। (दश0– 1/30)
विलासःपरिसर्पश्च विधूतं षमनर्मणी।

नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम्।।

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।। (दश0– 1/31)

19.3.3.3 गर्भ सन्धि

जहां दृष्ट होकर पुनः लोप हुए बीज का कई बार अन्वेषण हो, वह गर्भ सन्धि होती है। अर्थात् प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ प्रयोजन तथा कुछ अप्रयोजन रूप में प्रकट हो, तथा बार बार प्रकट होना, एवं समापन होना, तथा बार बार अन्वेषित किया जाना ही गर्भ सन्धि कही गई है। इस सन्धि में प्राप्त्याशा कार्यावस्था आवश्यक रूप में होती है। इसके मुख्य बारह भेद हैं– अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिवल, अद्वेग, संभ्रम, आक्षेप आदि –

गर्भस्तु दृष्टनाष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशांकः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः।
अभूताहरणं मार्गो रूपोहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिवले यथा।।
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते। (दश0– 1/36–37)

19.3.3.4 अवमर्श सन्धि

जहां गर्भ सन्धि में उत्पन्न बीजार्थ का क्रोधादि से पर्यालोचन हो, वहां अवमर्श सन्धि होती है। इसमें नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है, तथा इसके अपवाद, सम्फेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदानादि त्रयोदश अंग है–

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोपनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।।
तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसंगश्छलनं व्यवसायो विरोधनम्।।
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।

19.3.3.5 निर्वहण सन्धि

इतिवृत्त का वह भाग निर्वहण होता है, जो बीज से युक्त प्रारम्भ होने सम्बन्धी क्रियाकलाप संधियों में दिखाये जाते हैं, तथा जिनका मुख्य लक्ष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए उपसंहार होता है। वहीं फलागम कार्यावस्था तथा कार्य अर्थवृत्ति के तारतम्य से निर्वहण सन्धि कहलाती है, जिसके निम्नवत् चौदह अंग होते हैं–

सन्धि, विरोध, ग्रन्थन, निर्णय, परिभाषा, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार और प्रशस्ति आदि।

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्
संधिर्विबोधो प्रथनं निर्णयः परिभाषणाम्।।
प्रसादानन्दसमयाः कृतभाषोपगूहना।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्त्रिश्च चतुर्दश।। (दश0– 1/48–50)

19.3.4 अर्थोपक्षेपक

रूपकों का रंगमंच पर नाट्याभिनय होता है, तथा मंचन की गयी कथावस्तु में नायक के जीवन की समग्र घटनाओं का रूपकों के द्वारा वर्णन किया जाना संभव नहीं है। प्राच्य परम्परा में कई दृश्यों का रंगमंच पर प्रस्तुतिकरण नहीं किया जाना चाहिए, यथा– मरण, रक्तमय दृश्य, रतिक्रियादि। समस्त रूपक कहीं न कहीं रसों के आश्रयी होते हैं, इसलिए रसविहीन दृश्यों का वर्णन निषिद्ध है। इस प्रकार के दृश्यांश वर्णित तो नहीं किये जाते हैं, किन्तु कथावस्तु की निरन्तरता बनाये रखने हेतु आंशिक सूचना दी जाती है। इसलिए कथावस्तु सूच्य एवं दृश्य दो भेदों में विभाजित होते हैं। सूच्य कथांश का ज्ञान विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य तथा अंकावतार आदि अर्थोपक्षेपकों द्वारा दी जाती है–

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्।।
नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसमावनिरन्तरः।।
अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्।

विष्कम्भकचूलिकांकास्यांकावतारप्रवेशकैः।। (दश0– 1/56–58)

19.3.4.1 विष्कम्भक

भूत तथा भविष्य कथावस्तु का सूचक,संक्षेपार्थों को बताने वाला, मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोग किये जाने वाला अर्थोपक्षेपक विष्कम्भक कहा गया है। यह शुद्ध एवं संकीर्ण दो प्रकार का है। मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोग किये जाने वाला विष्कम्भक शुद्ध तथा मध्यम तथा अधम दोनों कोटि के पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाने वाला विष्कम्भक संकीर्ण कहा जाता है–

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।।
एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः।(दश0– 1/59–60)

19.3.4.2 प्रवेशक

विष्कम्भकवत् अतीत एवं भावी घटनाओं का सूचक निम्न (नीच) पात्रों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले दो अंकों के बीच में स्थित एवं अवशेष अर्थ को बताने वाला प्रवेशक कहा जाता है–

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽकद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः।। (दश0– 1/61)

19.3.4.3 चूलिका

नेपथ्य में स्थित पात्र के माध्यम से अर्थ की सूचना ही चूलिका कहलाता है–

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। (दश0– 1/61,द्वि0भा0)

19.3.4.4 अंकास्य

एक अंक के समापन होने के समय अंक में अभिनय करने वाले पात्रों के माध्यम से अन्य छूटे हुए अर्थादि की सूचना प्रदान करना, अंकास्य कहा जाता है–

अंकान्तपात्रैरंकास्य छिन्नांकस्यार्थसूचनात्। (दश0– प्र0 प्रकाश)

19.3.4.5 अंकावतार

बिना विष्कम्भक एवं प्रवेशक के प्रयोग किये, जहां एक अंक की समाप्ति तथा दूसरे अंक का प्रारम्भ अभेद रूप से हो जाये, उसे अंकावतार कहते हैं–

अंकावतारस्त्वंकान्ते पातोंऽकस्याविभागतः।

एभिः संसूचयेत सूच्यं दृश्यमंकैः प्रदर्शयेत्।। (दश0– 1/62)

19.3.5 नायक

''नायक'' शब्द 'दशरूपक' में सर्वप्रमुख अंग के रूप में स्वीकृत है, दशरूपक में 'नेता' भेदक तत्व माना गया है, तथा 'नेता' का तात्पर्य ही नायक की समस्त भावाभिव्यक्तियों एवं अभिव्यंजनाओं का परिचायक है। 'नेता' शब्द के अन्तर्गत नायिका सहित समस्त नायक के सहयोगी मित्र, नायिकाओं की समस्त सखियाँ, नाटक के प्रतिनायक, प्रतिनायकों के समस्त मित्रगण एवं सहयोगी आदि सभी अंग नेता ही कहलाते है।

आचार्य धनंजय (दशरूपककार) अपने ग्रन्थ के द्वितीय प्रकाश में नायक के गुणों के सन्दर्भ में बतलाते हैं, किः–

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियवंदः।
रक्तलोकः षुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
षूरो दृढश्च तेजस्वी षास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।। (दश0– 2/1–2)

अर्थात् नेता अथवा नायक विनयी, मीठा बोलने वाला, किसी भी वस्तु के प्रति अत्यधिक लगाव न रखने वाला, वाणी में चतुर अथवा नीतिगत भाषण करने वाला, प्रजा को प्रसन्न अथवा लोक में व्यवहार से सभी को प्रसन्न रखने वाला, हृदय में किसी के प्रति राग–द्वेष अथवा छल–कपट का भाव न रखने वाला, अनुकूलावसर पर वाणी का सुन्दर रूप में प्रयोग करने वाला, श्रेष्ठ बन्धु–बान्धवों के कुल में उत्पन्न होने वाला, मानसिक रूप से स्थिर, तथा यौवन धारक होता है, वह कुशाग्र बुद्धि को धारण करने वाला होता है, करणीय कर्म के प्रति निरन्तर उत्साह दिखाने वाला, श्रेष्ठ स्मरणशक्ति का धारक, भविष्य में होने वाली गतिविधियों या सम्भावनाओं का सटीक अनुमान लगाने वाला, कलाओं का प्रेमी व सभी से सम्मान प्राप्तकर्ता होना चाहिए, साथ ही वह साहसी, निडर, तेजस्वी, शास्त्रों को जानने वाला तथा धर्म में आस्था रखने वाला होता है।

गुण–दोष, चरित्र, .व्यक्तित्व आदि के आधार पर नायक को मुख्य चार भागों में विभाजित किया गया हैः–

भैदेश्चतुर्धाललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् (दश0 2/3)

1. धीरप्रशान्त 2. धीरललित 3. धीरोदात्त 4. धीरोद्धत।

उपरोक्त उत्कृष्ट विभाजन से यह स्पष्ट होता है, कि भारतीय प्राच्य परम्परा विशिष्ट रही है, तथा हम महान एवं उत्कृष्ट गुण धर्मो से युक्त व्यक्ति (नायक, नेता) को ही अपने ऊपर नेतृत्व करने का अधिकार सौंपते हैं, जो एक सभ्य समाज की नींव रखे, तथा लोक कल्याण हेतु नीतियों, नियमों, परिनियमों का निर्माण करते हुए उत्कृष्ट और सम्भ्रान्त समाज की स्थापना करे। सभ्य नीति निर्धारक नायक का धर्म है, कि वह लोक कल्याण के अवसरों का जागरण करे, यहीं उद्देश्य श्रेष्ठ साहित्य या काव्य का होता हैं, जो मार्गदर्शक के रूप में समय–समय पर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों की ओर जनसामान्य को उत्तमता से प्रेरित करता है, लेकिन यह भी एक दुःखद स्वरूप है, कि अर्वाचीन भौतिकता ने प्राच्य परम्पराओं को छद्म नायकों द्वारा कुंठित करने का प्रयास किया है। संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार नायकों का सामान्य परिचय निम्नवत् हैः–

19.3.5.1 धीरप्रशान्त

इस कोटि के नायक में उपरोक्त प्रायः सभी गुणों का सामंजस्य प्राप्त होता है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या राजा के मन्त्री आदि की सन्तति भी हो सकता है :–

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। (दश0–द्वि0 प्र0)

19.3.5.2 धीरललित

यह वह नायक है, जो अधिक चिन्ता न करने वाला तथा मृदु स्वभाव का धनी होता है, नानाविध कलाओं का प्रेमी तथा मनोरंजन के अवसरों का पूर्ण लाभ प्राप्त करने वाला होता है। दुःखपूर्वक जीवन यापन करने वाला एवं नृत्य तथा गायन के प्रति निरन्तर आकृष्ट रहता है–

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदु। (दशरूपक 2/3)

19.3.5.3 धीरोदात्त

धीरोदात्त प्रकार का नायक सात्विक(क्रोध, शोक विहीन) गुणी होता है, तथा चिन्तनशील, दूसरे को क्षमा करने वाला, अचंचल, उत्साही होने के कारण अहंकारी (स्वाभिमानयुक्त), किसी अन्य को कष्ट न पहुंचाने वाला तथा दिये गये वचनों की मर्यादा का परिपालक होता है। इस नायक में संयम (आत्मप्रशंसा न करने वाला) भी महत्वपूर्ण गुण होता है–

महासत्त्वोऽतिगंभीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरदात्तो दृढव्रतः।। (दशरूपक 2/4–5)

19.3.5.4 धीरोद्धत

यह नायक ईष्यालु, मदोदभ्रान्त, अहंकारी, कुचक्रकारी, नित्य नवीन छल करके लोक शोषण करने वाला, स्वयं का प्रशंसक, अल्पकारण में अति क्रोध करने वाला, निम्नकोटि का होता है–

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाद्दद्मपरायणः।।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।। (दशरूपक 2/5–6)

जब नायक किसी नवीना (कनिष्ठा) नायिका के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह स्वपूर्वा (ज्येष्ठा)नायिका के सापेक्ष दक्षिण, शठ या धृष्ट कहलाता है। नायिकाओं के प्रति आचरण की दृष्टि से नायकों को चार प्रकार की श्रेणियों में विभाजित किया गया है–

स दक्षिणः षठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः। (दशरूपक 2/6)

अर्थात् दक्षिण, शठ, धृष्ट या अनुकूल नायकों के भी चार–चार प्रकार के आधार पर यह (4X4=16) सोलह भेद बताये गये हैं। दक्षिण नायक अपनी पूर्वा नायिका के प्रति प्रेम व्यवहार से रहता है, तथा साथ ही ज्येष्ठा नायिका की अनुपस्थिति में कनिष्ठा से श्रृंगार व्यवहार (प्रेमालाप) भी करता है, जो शठ की श्रेणी है। इसी प्रकार जब कनिष्ठा के साथ प्रेम व्यवहार या श्रृंगारिक रति क्रियाओं की समस्त बातों का ज्ञान ज्येष्ठा को होता है, तो वही दक्षिण से शठ नायक, धृष्ट की श्रेणी में आकर धूर्तता करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है, कि मुख्य नायक को भी उपरोक्त दक्षिण्य, शठ, धृष्टादि नायकों की श्रेणी में सम्मिलित किया जाना अनुचित नहीं है। एक नायिका धर्म का परिपालक अनुकूल नायक होता है। 16 प्रकार के नायक उत्तम, मध्यम, अधम भेद से 48 प्रकार के स्वीकृत किये गये हैं।

दक्षिणऽस्या सहृदयः गूढविप्रियकृच्छठः।

व्यक्तांगवैकृतो धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः।। (दशरूपक 2/7)

19.3.6 नायिका

नाटकादि परिष्कृत विधाओं में किसी कथावस्तु को उसके चरम तक ले जाने का जो श्रेय काव्य ग्रन्थों में नायक को है, वहीं स्त्री नाटक श्रृंखला में नायिका को है। नायिका, नायक की भार्या या प्रेमिका होती है। प्रधान नायक के गुण जो उसे नायकत्व की श्रेणी प्रदान करते हैं, तद्वत् नायिका के भी काव्यशास्त्रीय गुण, उसे किसी भी स्त्री कथावस्तु में नायिका की मुख्यता प्रदान करते हैं, इसलिए स्पष्ट है, कि नाटकादि रूपकों में जो स्थान नायक का है, वही नायिका का भी है।

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि ने नायिकाओं को चार भागों में विभाजित किया है–

1. दिव्या 2. नृपपतिनी 3. कुलस्त्री 4. गणिका।

किन्तु आचार्य भरतमुनि के द्वारा बतलाए गये नायिकाओं के चार प्रकार, समस्त काव्य जगत में स्वीकार नहीं किये गये। काव्याचार्यों, नाट्याचार्यों द्वारा उपरोक्त चार श्रेणी की नायिकाओं को निर्विवाद रूप में नहीं अपनाया गया,

दशरूपककार आचार्य धनंजय द्वारा नायिकाओं को तीन कोटियों में विभाजित किया गया। यही नायिकाओं की श्रेणियां वर्तमान में समस्त काव्यशास्त्रीय एवं नाट्याचार्यों द्वारा एकमत से स्वीकृत की गयी हैं। नायिकाओं की प्रथम श्रेणी का प्रथम विभाजन, नायक–नायिका के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। द्वितीय विभाजन, नायिका की आयु उसकी शारीरिक सौष्ठवता की अवस्थायें, आंगिक लावण्य एवं कोमलता हैं, तथा साथ ही नायक द्वारा अकरणीय कर्मों के आधार पर प्रतिनायक का उसके प्रति व्यवहार है, एवं तृतीय विभाजन में उसकी नायक के प्रति प्रेम व आलिंगन की अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन सम्मिलित है–

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।
मुग्धामध्या प्रगल्भेति स्वीया षीलार्जवादियुक्।।(दश0– 2/15)

नायिकाओं को सामान्य रूप में तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है–

19.3.6.1 स्वीया या स्वकीया नायिका

नायिका के प्रथम प्रकार में स्वीया या स्वकीया नायिका है, जो कि कुलीन घर में जन्म लेने वाली एक चरित्रवती यौवना होती है। वह किसी भी परपुरूष का भाव तक अपने मन में प्रवेश नहीं होने देती, वह उच्च चिन्तना होती है। वास्तविक रूप में लज्जा और शील उसके यौवन पर पूर्ण हावी रहता है। प्रत्येक दशा में लज्जा को आभूषणवत् धारण करके वह पति के अनुकूल सदाचरण में व्यस्त रहती है।

स्वकीया नायिका, नायक द्वारा सम्पूर्ण सांगोपांग विधि–विधान द्वारा विवाह करके लायी गयी स्त्री होती है, जैसे भवभूति रचित उत्तररामचरित की नायिका सीता है। स्वकीया नायिका के मुख्यतः तीन भेद होते हैं– 1.मुग्धा नायिका 2. मध्या नायिका 3. प्रगल्भा नायिका। जिनका वर्गीकरण निम्नवत है:–
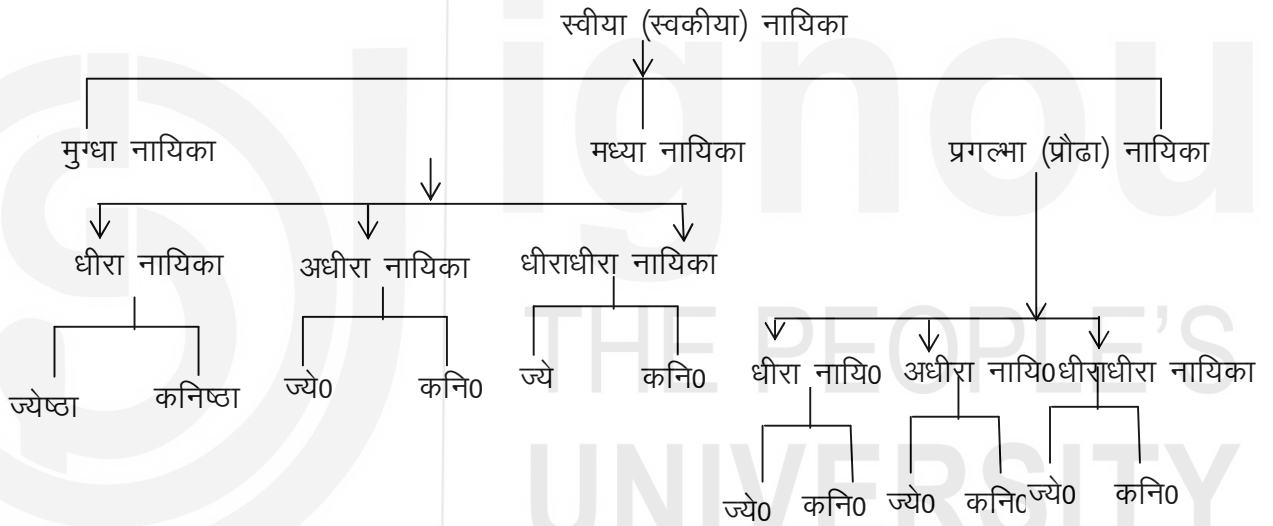
अतः स्पष्ट है, कि सर्वप्रथम स्वीया (स्वकीया) नायिका के तीन भेद मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा(प्रौढा) कहलाये, तत्पश्चात् मध्या नायिका तथा प्रगल्भा(प्रौढा) नायिका के तीन–तीन भेद धीरा, अधीरा, धीराधीरा हुए, जो कि सम्पूर्ण छः भेद वर्गीकृत हुए, तदनन्तर मध्या तथा प्रगल्भा(प्रौढा) नायिका के छः भेदों के ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा भेद से मुख्यतः बारह भेद किये गये–

मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।
द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता।। (दश0– 2/20)

इस प्रकार बारह भेद सहित मुग्धा नायिका मिलाकर स्वीया (स्वकीया) नायिका के तेरह भेद स्पष्ट होते हैं।

19.3.6.2 परकीया (अन्य) नायिका

परकीया नायिकायें मुख्यतः दो प्रकार की वर्णित हैं। प्रथम प्रकार की वे नायिकायें जो कि विवाहित नहीं हैं, तथा पितृगृह में निवास करती हैं। द्वितीय प्रकार की वे नायिकायें, जो कि विवाहित (परिणीता) हैं, तथा पतिप्रदेश में निवास करती हैं।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है, कि नाटकों में प्रयुक्त मुख्य रस के आलम्बन में, अन्य के साथ परिणीत परकीया नायिका का वर्णन करना उचित नहीं है। अविवाहित कन्या के वर्णन में दोष नहीं है।

वर्तमान भौतिकवादी युग में यदा–कदा दृष्टिगत तो होता ही है कि परिणीता स्त्री किसी अन्य पुरुष (उपनायक) से प्रेमालाप सम्बन्ध रखती है, जो कि प्राच्य–परम्परा के आधार पर अशोभनीय कृत्यों की श्रेणी में स्वीकृत है। इस प्रकार अधार्मिक कृत्यों से युक्त परकीया (अन्य) नायिका का कथावस्तु में मुख्य रस के साथ सामंजस्य स्थापन उचित नही है, बल्कि शास्त्रीय मर्यादानुरूप दोषपूर्ण है।

अविवाहित कन्या पितृगृह में निवास करने वाली परकीया नायिका को अन्या इसलिए कहा गया है, कि वह पितृगृह में पिता के नियन्त्रण में रहते हुए भी, यद्यपि सुलभ नहीं है, किन्तु उसे फिर भी प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि कामावेश में वह नायक से छिप–छिपकर प्रेमालाप करती है, यह नायिका नितान्त अन्य लोगों के वशीभूत ही होती है।

19.3.6.3 साधारण स्त्री (गणिका)

तृतीय श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री कहलाती है। वह गणिका (वैश्या) होती है। यह हाव–भाव को दिखाने तथा कलाओं को प्रस्तुत करने में बहुत ही चालाक होती है, पूर्णरूपेण स्वार्थी होती है, रतिक्रियाओं के प्रति अत्यन्त लोभी एवं स्वेच्छाचारिणी होती है। सदा स्वतन्त्र रहकर कामपिपासा में संलिप्त रहने वाली तथा धन की अत्यन्त लोभी होती है। यह मूर्ख पुरुषों के प्रति स्वतन्त्र एवं चरित्रहीन पुरुषों से अत्यन्त प्रेम व्यवहार का झूठा प्रदर्शन करती है, तथा उन्हें अपने असत्य प्रेम के मायाजाल में इस प्रकार से फंसाती है, कि सम्पूर्ण धनहरण करके ही शान्त होती है। वस्तुतः किसी भी चरित्रविहीन धनी व्यक्ति को अपने असत्य प्रेम के प्रति आकृष्ट करके बार–बार कामक्रीडा (रति) में रत रहने के पीछे ऐसी नायिकाओं का लक्ष्य उनका समस्त धन प्राप्त करना ही होता है, तथा जब पुरुष असहाय अथवा निर्धन हो जाय, तो उसका अपनी माता(कुट्टिनी) के द्वारा तिरस्कार करा देती है–

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौत्ययुक्।।
छन्नकामसुखार्थाज्ञस्त्वतन्त्राहयुपण्डकान्।
रक्तेव रंजयेदाढ्यान्निः स्वान्मात्रा विवासयेत।। (दश0– 2/21–22)

कतिपय रूपकों (प्रहसनादि को छोडकर) में इस नायिका का प्रेमालाप सम्बन्धी रूप ही प्रायः प्राप्त होता है यथा– मृच्छकटिक की वसन्तसेना (गणिका) का दरिद्र चारूदत्त के प्रति आकृष्ट होना, उच्च नायकादि से युक्त नाटकीय कथावस्तु में इसका समावेश सर्वथा त्याज्य होता है।

रक्तैवत्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये। (दश0– द्वि0 प्र0)

साधारण स्त्री नायिका के मुख्य रूप में आठ प्रकार हैं–

7. स्वाधीनपतिका 2. वासकसज्जा 3. विरहोत्कण्ठिता 4. खण्डिता 5. कलहान्तरिता 6. विप्रलब्धा 7. प्रोषितप्रिया 8. अभिसारिका आदि।

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः।।
आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका

मुदावासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।।
चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मतः।
ज्ञातेऽन्यासंगविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।।
कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।
विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता।।
दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।
कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका।। (दश0– 2/23–27)

उपरोक्त आठ प्रकार की गणिका (नायिका) भेदों में उनके सामान्य गुणधर्मों की स्थिति निम्नवत् है–

उल्लिखित छः नायिकाओं यथा– विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया एवं अभिसारिका में चिन्ता, खेद, अश्रु, वैवर्ण्य, तथा ग्लानि ये दीनताजन्य लक्षण देखे जाते हैं, तथा प्रारम्भ की दो गणिकाओं (नायिका) यथा– स्वाधीनपतिका एवं वासकसज्जा में क्रीडा, उज्ज्वलता एवं प्रसन्नता सूचक भूषण होते हैं–

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः।
युक्ताः शडन्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः।। (दशरूपक– 2/28)

19.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में नाटकों के अंगों– प्रत्यंगों का वर्णन किया गया है, जिसमें प्राच्य परम्परा का नाट्य प्रयोगविधि सहित आवश्यक तत्वों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया गया है।

इकाई का अत्यधिक विस्तार न हो, इस हेतु आचार्य धनंजय द्वारा प्रतिपादित नाटकों के अति महत्वपूर्ण तथ्यों की चर्चा की गयी है, तथा बीच–बीच में भरतमुनि सहित अन्य आचार्यो के मतों को भी प्रकरण के समग्र ज्ञानार्थ प्रस्तुत किया गया है। नाटकों के उद्भव एवं क्रमिक विकास को संक्षेप में बताया गया है, तथा नाटकों में प्रयुक्त होने वाले तत्व जैसे– अर्थप्रकृति के भेदोपभेद, कार्यावस्थाओं के प्रकार, सन्धि एवं सन्ध्यंगों का संक्षिप्त वर्णन तथा अर्थोपक्षेपकों के अंगों का वर्णन संक्षेप में आवश्यक बोधार्थ किया गया है। उपरोक्त के अतिरिक्त नायक एवं नायिका के वर्णन के बिना नाटकों के आवश्यक अंग अधूरे ही होते हैं। अतः नायक–नायिका का सारगर्भित वर्णन किया गया है।

नाटकसाहित्य बहुत ही वृहद है, जिससें पार पाना अत्यन्त दुष्कर है, तथा नानाप्रकार की विधियों और क्रियाकलापों से युक्त होने के कारण ही यह सामाजिकों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल रहा है। इसमें केवल धर्मात्माओं या ज्ञानियों का चरित्रचित्रण ही नहीं है, बल्कि नाटकों के मंचन में हम सभी देखते हैं, कि नाटकों में कामी व्यक्ति के लिए कामसेवन, नपुंसकों के लिए क्लीबत्व, दुराग्रहियों के लिए निग्रह की वस्तु, शौर्य एवं पराक्रमियों के लिए उत्साह, मूर्खों के लिए मूर्खतायुक्त प्रसंग, दुःखी, शोषित, पीडित लोगों के लिए ढांढस एवं आश्वासनयुक्त प्रसंग, धन की चाह रखने वाले के लिए अर्थ प्राप्ति के साधनों की कथायें आदि प्रचुर मात्रा में रंगशालाओं में अभिमंचित होंती है।

उपरोक्त समस्त प्रयोजनों की सिद्धि सामाजिकों तक सरल से सरल रूप में तथा सुगमतापूर्वक समझने के लिए नाटकों का मंचन उपरोक्त आवश्यक अंगों की

नियमावलियों के अनुसार करने से ही प्राप्त होता है। अन्यथा की स्थिति में नाटक का मंचन तो होगा, किन्तु जो संकेत या संदेश सामाजिकों तक जाना चाहिए वह नही जा पाता है, और नाटक की रचना विशिष्ट होने के पश्चात् भी वह उपहासास्पद हो जाता है।

अतःप्रस्तुत इकाई में नाटक के आवश्यक अंगों का वर्णन सहजतापूर्वक किया गया है। जो दर्शकों और सामाजिकों को अभिमंचित नाटक के समस्त स्वरूपों का आनन्द प्राप्त कराने के साथ–साथ ज्ञानवर्धन सहजतापूर्वक हो सके, तथा जीवन में धर्माधर्म बोध सुलभता से प्राप्त किया जा सके।

19.5 शब्दावली

1. शेखरापीडयोजनम् – बालों को पुष्पसज्जित करना।
2. कौचुमारयोगा – नायक से विमुख नायिका के हृदय को पुनः नायक की ओर आकृष्ट करने के उपायों का निर्देश देना।
3. सूत्र क्रीडा – धागों से खेलना।
4. क्रियाविकल्पा – काव्य के लक्षण एवं अलंकार।
5. पलिक्नी – बूढी स्त्री।
6. पर्याकुल – व्याकुल या विक्षिप्त।
7. निर्हास्व – हास्य रहित।
8. द्विपद – दो पैरों से युक्त।
9. तपनीय – सुवर्ण, सुनहरा।
10. दिक्करी – नवयुवती, किशोरी।
11. तीर्थक् –पवित्र।
12. जीवोत्सर्ग – जीवन त्याग।
13. गीर्वाण – देवता, इष्ट।
14. उदन्तिका –तृप्ति।
15. उत्तारण – पार कराने वाला।
16. आक्षिक – द्यूत संबधी धन।
17. अज्ञाति – जिसके साथ रक्त सम्बन्ध न हों।
18. मेघालोक – बादलों का दिखना।
19. रागिन – प्रेम में विक्षिप्त, अनुरक्त।
20. वाचोयुक्ति – सुन्दर वाणी, कथन का मनोरम प्रकार।
21. शुक्रांग – गर्भोत्पादक बीज।
22. हेमा – सुन्दरी, अप्सरा।
23. कल्लोलिनी – नदी।
24. अंगांगिभाव – अवयव एवं अवयवी का पारस्परिक सम्बन्ध।
25. अनधिगत – अप्राप्त, न पढ़ा गया, समझ में न आया।
26. उपकर्तृ – उपकार करने वाला।
27. कथानक – कथा, कहानी या किस्सा।

28. गम्य – पहुंचने या जाने योग्य, भोगने योग्य (स्त्री)।
29. जिगमिषा – जाने की इच्छा।
30. ज्ञाप्ति – ज्ञान, बोध, समझ।
31. ताण्डविका – नाटयित्री।
32. दृशि – दर्शनशक्ति।
33. निवर्हन – नष्ट करना, दूर करना।
34. हृच्छय – काम।
35. स्वयंवर – स्वयं पति का वरण।
36. स्योन – सुन्दर, मनोरम, मांगलिक।
37. स्मर – कामदेव, प्रेम, याद।
38. स्नेहन् – शिव, मित्र।
39. स्कन्धक – प्राकृत काव्यों में सर्ग का नाम।
40. सेन – स्वामी वाला।
41. सामात्य – आमात्य सहित।
42. शस्त – प्रशंसित, उच्चारित।
43. व्यहव – कुमार्ग।
44. वीर्यवत् – शक्तिशाली, प्रबल।
45. विप्रिय – विश्वासघात, अपराध।
46. पत्ररंजन – पृष्ठ सजाना।
47. निसर्ग – स्वभाव, प्रकृति, त्याग।
48. नासिक्य –नासिका से उत्पन्न।
49. विसिनी – कमल, दीर्घिका, बावडी।
50. प्रजावती – बडे भ्राता की पत्नी (भाभी)।
51. पुंस्कटि – पुरुष का कटि भाग।
52. पतिंवरा – पति को वरण करने वाली।
53. निष्प्रम – निस्तेज, कान्तिहीन।
54. धर्मनाम – विष्णु।
55. द्विगूढ– लास्य का भेद–विशेष।
56. दुश्चर – दुःसाह्य।
57. त्रिपौरुष – तीन पीढ़ियों तक चलने वाला।
58. तिलोदरी – कृशोदरी।
59. जीवत्पतिका – जिसका पति जीवित है
60. गजाजीव – महावत।
61. केतु – पताका, नेता, दीप्ति।,

19.6 बोध प्रश्न

1. नाटकों का उदे्श्य स्पष्ट कीजिए।

2. नाट्य, रूपक तथा नाटक में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. नाटकों की उत्पत्ति कैसे हुई, तथा नाटकों में संवाद की क्या भूमिका है।
4. नाट्य विकासक्रम को प्रतिपादित कीजिए।
5. आहार्याभिनय से आप क्या समझते है। भेदोपभेदों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. प्राप्त्याश कार्यावस्था को उदाहरणपूर्वक वर्णित कीजिए।
7. फलागम के संबन्ध में आचार्य धनंजय का मत स्पष्ट कीजिए।
8. बीज किसे कहते हैं, नाट्यजगत में बीज की उपयोगिता संक्षेप में दीजिए।
9. गर्भसंधि कहां होती है। नाटक में इसकी अनुपस्थिति का क्या प्रभाव होगा स्पष्ट कीजिए।
10. अंकावतार को स्पष्ट करते हुए संक्षेप में निबन्ध लिखिए।
11. नाटक में नायक की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
12. चूलिका को स्पष्ट कीजिए।
13. नायिका का लक्षण करते हुए प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
14. अर्थप्रकृति का महत्व समझाइये।

19.7 सन्दर्भित पाठ्य पुस्तकें/सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दशरूपक, – डा0 भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन, चौक वाराणसी– 2011
2. संस्कृत रूपकों में पूर्वरंगविधान– डा0 रामप्रमोल कुमार, शिवालिक प्रकाशन, 27/06 शक्तिनगर, दिल्ली–2010
3. आधुनिक संस्कृत नाट्यसाहित्य और सौन्दर्य कलाशास्त्रीय तत्व– डा0 रीता तिवारी– प्रतिभा प्रकाशन अजेन्द्रमार्केट, प्रेमनगर दिल्ली–2008
4. संस्कृत के प्रतीक नाटक और अमृतोदय– डा0 कैलाशनाथ द्विवेदी, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, 222, किशन पोल वाजार जयपुर (राज0)– 2008
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास – लेखकः वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, बंगाली रोड नई दिल्ली। – 2003।

इकाई 20 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण, भाग–01 – नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम

इकाई की रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण (भाग– 01)

- 20.3.1 नाटक
  - 20.3.1.1 वस्तु
  - 20.3.1.2 बीज
  - 20.3.1.3 मुख
  - 20.3.1.4 पात्र
  - 20.3.1.5 नाटक मंचन हेतु महत्वपूर्ण तथ्य
  - 20.3.1.6 नाटक मंचन में निषिद्ध तथ्य
- 20.3.2 प्रकरण
- 20.3.3 भाण
  - 20.3.3.1 गेयपद
  - 20.3.3.2 स्थितपाठ्य
  - 20.3.3.3 आसीन
  - 20.3.3.4 पुष्पगण्डिका
  - 20.3.3.5 प्रच्छेदक
  - 20.3.3.6 त्रिगूढ
  - 20.3.3.7 सैन्धव
  - 20.3.3.8 द्विगूढक
  - 20.3.3.9 उत्तमोत्तमक
  - 20.3.3.10 उक्तप्रयुक्त
- 20.3.4 प्रहसन
  - 20.3.4.1 शुद्ध प्रहसन
  - 20.3.4.2 संकीर्ण प्रहसन
- 20.3.5 डिम

20.4 सारांश

20.5 पारिभाषिक शब्दावली

20.6 बोध प्रश्न

20.7 सन्दर्भित पाठ्य पुस्तकें/ सन्दर्भ ग्रन्थ

20.1 उद्देश्य

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- नाटक के भेद तो होते ही हैं, परन्तु नाट्य भेद भी होते हैं। आप भलीभांति नाट्य भेदों को समझा सकेंगें।
- नाट्य भेदों में वस्तु, बीज, मुख, पात्र, मंचन के लिए महत्वपूर्ण तथ्य आदि का उल्लेख कर सकेंगें।
- नाटक, प्रकण, भाण आदि को बता सकेंगें।
- गेयपद, आसीन आदि तत्वों का समावेश नाटक में कैसे होता है, बता सकेंगें।
- प्रहसन को उदाहरण सहित समझा सकेंगें।
- डिम को परिभाषा सहित वर्णन करने में सक्षम हो सकेंगें।

20.2 प्रस्तावना

संस्कृत ग्रन्थों में प्राच्याचार्यों द्वारा नाटक विधा को नाट्य, रूप, रूप्य आदि कई नामों से व्यवहृत किया जाता रहा है, तथा नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों के मध्य नानाविध मतभेद भी रहे हैं।

आचार्यो द्वारा नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से स्वीकृत की गई है, किन्तु वर्तमान में 'नाट्य' शब्द महर्षि पाणिनि के आधार पर 'नट' धातु से उत्पन्न मानी गयी है, उनके अनुसार 'नट' शब्द 'ष्यञ्' प्रत्यय से निर्मित होकर नाट्य शब्द बनता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'णट् नतौ' को 'णट नृतौ' स्वीकृत कर 'नति' नमनार्थे से 'नट' धातु से व्युत्पत्ति मानी है। इस प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त ने नर्तनार्थक नृत् धातु से नाटक शब्द की व्युत्पत्ति मानी है।

आचार्य धनंजय ने अवस्था के अनुकरण को नाट्य माना है अर्थात् अभिनयानुक्रम में अनुकरण आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक चार भेदों वाला है, जो अभिनय करने वाले कथावस्तु के पात्रों के परस्पर अभेद युति का फल है। जिसे नाट्य कहा गया है–

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।(दशरूपक– 1/7)

अमरसिंह रचित अमरकोश में गायन, वादन तथा नृत्य यह तीनों 'नाट्य' वर्ग में माना गया है–

नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। (अमरकोश– 1/11)

नाट्य केवल मात्र सुनने को ही नही कहा गया है, नाट्य को देखने से जो सहृदयों को रसास्वादन और आनन्द की आत्मिक अनुभूति होती है, वह देखने से ही प्राप्त होती हैं। अतः नाट्यविद्या श्रव्य एवं दृश्य दो प्रकार का माना गया है, चक्षु के द्वारा ग्राह्य होने के कारण अभिमंचित दृश्य ही आनन्द की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण सहायक होता है। श्रव्य काव्य शब्दों के माध्यम से नाटकीय कथावस्तु का अनुश्रवण करने के लिए होती है। दृश्य काव्य चूंकि रंगमंच में साज–सज्जा, आभूषणों तथा पात्रों के विभिन्न प्रकार विभिन्न प्रकार के अभिनयों से हृदय में आनन्द की प्राप्ति तो कराता ही है, किन्तु यदि

शब्दों का संयोजन यदि उत्कृष्ट रूप में नहीं किया गया, अथवा उसका रसों के अनुरूप श्रोताओं को प्रतीति नहीं हुई तो दृश्य नाट्य भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता है।

अतः नाट्य परम्परा में शब्द सामंजस्य तथा अभिनय प्रौढ़ता से ही नाट्य पूर्णता को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रव्य एवं दृश्य, दोनों ही नाट्यपरम्पराओं का उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुतीकरण में समान योगदान माना गया है।

20.3 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण (भाग– 01)

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आने वाला नाट्य विश्व का सर्वोत्कृष्ट वाङ्गमय कहलाता है, जिसके ज्ञान का अर्जन करके ह्रदय शान्त भाव को प्राप्त हो जाता है, तथा अनुभव होता है, कि इसमें मनोभावों को दिव्यता प्रदान करने की पूर्ण सामर्थ्य है, जो अन्तःचेतना को परमानन्द की अनुभूति कराती है। यह परम्परा अनन्त काल से मानवों में ज्ञानगंगा का मुख्य स्रोत रही है।

संस्कृत काव्यों में नाट्य को अद्वितीय स्थान प्राप्त है, तथा दृश्य और श्रव्य की दो परम्पराओं का संगम है। सद्यःपरिनिवृत्ति का दर्शकों को अतिशीघ्र आनन्दानुभव दृश्य काव्य द्वारा सुखपूर्वक दिया जाता है। इसलिए काव्य विधा में नाटकों को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है–

''काव्येषु नाटकं रम्यम्'' (काव्यालंकारसूत्रवत्ति, 1/3)

आचार्य धनंजय ने नाट्य को निम्नवत् वर्णित किया है–

'जिस प्रकार नयनों के विषयरूप नीला, पीला, रक्त इत्यादि रूप कहे जाते हैं, वैसे ही नयनों द्वारा प्रत्यक्षरूप में देखने से नाट्यविधा को रूप भी कहा गया है, तथा राम, कृष्ण आदि नटों की अवस्थाओं का आरोप पात्रों पर किया जाता है। इसी कारण नाट्य को रूपक भी कहते हैं। रूपक शब्द की व्युत्पत्ति रूप से 'ण्वुल' प्रत्यय द्वारा होंती है–

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्। (दशरूपक– 1/7)

संस्कृत विद्वानों ने नाट्यविधा के मूलस्रोत के रूप में अनुकरणात्मक भावाभिव्यक्ति को ही प्रधानता से स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने अपनी चिन्तन शक्ति से मूल तक पहुंचने का निरन्तर प्रयास किया। आचार्य भरत ने तीनों लोको में आनन्दानुभव को ही नाट्यकहा है–

त्रैलोकस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।(नाट्य शा0– 1/104)

नाट्यको आचार्य भरत द्वारा निम्नवत् परिभाषित किया गया है–

यो यो स्वाभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सांगाभिनयोपेतः नाट्यभित्यभिधीयते।।(नाट्य शा0– 21/123)
यस्मात्स्वभावं संस्कृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्।(नाट्य शा0– 21/125)

संस्कृत काव्यों में नाट्यविधा समृद्ध होने के कारण रूपकों को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है, इस प्रकार नाट्य या रूपकों को मुख्य रूप से दस भागों में बांटा गया है। प्रस्तुत

भाग–01 में प्रथम पांच रूपकों (नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन एवं डिम) को विस्तारपूर्वक विवेचित किया जा रहा है, शेष पांच रूपक (व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहामृग) इकाई – 21 के भाग–02 में वर्णित किये जायेंगे। विभिन्न आचार्यो की दृष्टि में दशरूपक निम्नवत् हैं–

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगाः इति।। (दशरूपक– 1/8)

साहित्यदर्पण के अनुसार–

नाटकमथप्रकरणं भाणव्यायोग समवकारडिमाः।
ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।

नाट्यदर्पण के अनुसार–

नाटकं प्रकरणंच नाटिका प्रकरणमथ।
ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।

नाट्यशास्त्र के अनुसार–

नाटकं सप्रकरणो व्यायोग प्रकरणमथ।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः।
ईहामृगांक विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।।

विभिन्न आचार्यों द्वारा बतलाये दशरूपकों के भेदों के पश्चात् अब प्रथम भेद नाटक का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है–

20.3.1 नाटक

रूपकों में नाटक का प्रथम एवं महत्वपूर्ण स्थान हैं, नाटक अन्य रूपकों में प्रकृति रूप कहलाता है, जिसमें रसादि की अत्यन्त भूमिका दृष्टिगत होती है, नाटक में समस्त नाट्यलक्षण समाहित होते हैं, जिसका लक्षण आचार्यों द्वारा निम्नवत किया गया है–

प्रकृतत्वादथादन्येषां भूयोरसपरिग्रहात्।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्य पूर्वं नाटकमुच्यते।।(दशरूपक– 3/1)

रामायण महाभारतादि– प्रसिद्ध कथावस्तु युक्तनाटक होता है। कवि की कल्पना द्वारा रचित कथावस्तु नाटकमें प्रयोग नहीं होती है। सुख, वैभव, ऐश्वर्य, विलासादि का समुचित परिपाक नाटक में होना चाहिए। सुख–दुःखादि की प्रवृत्ति–निवृत्ति में रसों की पूर्ण स्थिति होनी आवश्यक है, नाटक में पांच से लेकर दस अंको की सृजना आवश्यक है।नाटक का नायक उत्कृष्ट एवं कुलीन घर में जन्मा, विनम्र, शौर्यशाली तथा पराक्रमी श्रेष्ठ पुरुष होता है। यह नायक धीरोदात्त श्रेणी का होता है, रसों में श्रृंगार और वीर की प्रधानता रहती है, तथा अन्य सभी रस मध्य–मध्य में अंग रूप होते हैं। समस्त सन्धियांनाटकमें आवश्यक रूप से विद्यमान होती हैं, गोपुच्छ के अग्रभागवत् नाटक भी एक–दो परिष्कृत विषयों से आरम्भ होना चाहिए। कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तल एवं भवभूतिकृत उत्तरामचरित में इसी प्रकार का नाट्य संयोजन प्राप्त होता है।नाटको में कैशिकी अथवा सात्त्वती वृत्ति होती है। चार अथवा पांच पुरुष नायक सहायक होते है–

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसन्धिसमन्वितम्।
विलासर्द्धर्थादिगुणवद्युवतं नानाविभूतिभिः।।
सुख–दुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पंचादिकादशपरास्तत्रांकाः परिकीर्तिता।।
प्रख्यातवंशोराजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथदिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।
एक एवं भवेदंगी श्रृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।
चत्वारः पंच वा मुख्या कार्यव्यापृतपुरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।।(सा0दर्पण– 6/7–11)

नाट्यशास्त्र में नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व सूत्रधार सहृदयी दर्शकों को नाटक के मूलस्वरूप से अवगत कराता है, तथा उनके अनुकूल मनोरंजन सामग्री का उद्बोधन करता है। इसके पश्चात् नान्दी (मंगलाचरण), देवपूजनादि आवश्यक परम्पराओं का निर्वहन करना पूर्वरंग कहलाता है। उपरोक्त आवश्यक औपचारिक क्रियाओं को करने के अनन्तर सूत्रधार मंच से चला जाता है, तथा शुद्धवेषधारी कोई अन्य पात्र मंचित होने वाले नाटक की कथावस्तु तथा उसके मर्म का सुन्दर व्याख्यान करता है, काव्य के अर्थ की सुन्दर प्रस्तुति करने वाले पात्र इसको स्थापक कहा जाता है। स्थापक नाटक की कथावस्तु के अनुक्रम में ही वेशभूषा को धारण करता है। तथा मनुष्यों अथवा देवताओं से सम्बन्धित जो भी नाटकीय चरित्र है, उसके अनुसार ही मंच पर आकर स्थापक नाटक के पात्रों तथा नाट्यांगों (बीज, मुख, वस्तु, पात्र) को संयुक्त रूप में विवेचित करता है–

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथपि वा।।(दशरूपक– 3/3)

20.3.1.1 वस्तु

स्थापक द्वारा काव्यार्थ के वस्तु विवेचन सम्बन्धी उदाहरण निम्नवत् है–

राजा दशरथ द्वारा माता कैकेयी को प्रदत्त, राम के वन जाने सम्बन्धी वचन का परिपालन करते हुए भगवान राम वन को चले गये, राम के इस उच्च व्यवहार के कारण भरत ने राज्य त्याग के साथ माता कैकेयी का भी परित्याग कर दिया, राम ने रावण को मारने के पश्चात् अपने प्रिय मित्रों (विभीषण एवं सुग्रीव) को उनके राज्यों का राजा घोषित करके विभूषित किया–

रामो मुर्ध्नि निधाय काननमगान्मालाभिवाज्ञां गुरो–
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः।।(उदात्तराघव नाटक)

20.3.1.2 बीज

जब भाग्य की अनुकूल गति जीवन में आती है, तो दुःसाध्य कर्मों की अनुकूलता भी अविश्वसनीय रूप से प्राप्त हो जाती है, भले ही फल सागर के मध्य हो, किसी देश अथवा द्वीप में हो, या दशों दिशाओं में हो, वह प्राप्त हो ही जाता है–

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतभिमुखीभूतः।।(रत्नावली नाटिका)

यहां पर ''समुद्र में रत्नावली के खो जाने के बाद भाग्यवशात् यौगन्धरायण को प्राप्त होना'' आदि संकेत है।

20.3.1.3 मुख

रमणीय शरदऋतु की छटा, जो चन्द्रकान्ति को प्रदर्शित कर रही है, खिलते हुए पुष्पों से युक्त हैं, तथा मेघों के उमडने तथा वर्षा से पूर्व होने वाले अंधकार युक्त वातावरण को जिसने उसी प्रकार से नष्ट कर दिया है, जैसे भगवान राम ने अज्ञान एवं अंधकार रूपी रावण के खड्ग को ध्वस्त कर जीवन को प्रकाशित किया था–

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खायगाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव।।(विश्वनाथमतानुसार)

20.3.1.4 पात्र

जब स्थापक नायक या किसी अन्य पात्र की सूचना प्रदान करते समय उस पात्र के मंच पर प्रवेश करने का संकेत करता है, पात्र कहलाता है–

यथा–**हे! सुन्दरी राजा दुष्यन्त शिकार खेलते समय जिस तरह हिरण के प्रति आकर्षित हुए, वैसे ही तुम्हारे मनोरम रागयुक्त गीतों को सुनकर मेरा हृदय भी अनायास तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो रहा है**

तथा इसके पश्चात् उसी समय मृग का पीछा करते हुए, राजा दुष्यन्त मंच पर प्रवेश करते हैं–

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एव राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।(अभि0 शा0 / प्र0 अं0)

इस प्रकार उपरोक्त समस्त कार्ययोजना स्थापक द्वारा नाटकारम्भ में की जाती है। स्थापक सुन्दर, शिक्षाप्रद, श्लोकगायन एवं ऋतुवर्णन (भारतीवृत्ति युक्त) करके सहृदयों को आनन्दित करता है–

रंगं प्रसाद्य मधुरैः ष्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कश्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत।।(दशरूपक– 3 / 4)

नाटकों के नायकों के सम्बन्ध में स्पष्ट ही है, कि नायक उत्कृष्ट कुल में जन्मा हुआ राजर्षि होता है, जो कि उत्तम गुणों को धारण करने वाला होता है। नायकों के प्रकार में वह धीरोद्धात होता है, तथा पराक्रमी होता है। वह वेदों की प्राच्य परम्परा की रक्षा

करने वाला होता है, राजकार्यो के प्रति उत्साही तथा निरन्तर यश पताका के प्रसार का चिन्तक होता है। नायक देवता भी होता है, जो कि उपरोक्त समस्त नायकीय गुण–धर्मो का धारक होता है। इतिहासादि विख्यात नाटकों में उपर्युक्त गुणों से युक्त नायक के अभिनय से ही नाटक श्रेष्ठ होता है–

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तःप्रतापवान्।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः।
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।।(दश0– 3/22–23)

जिस नाटक में कथावस्तु प्रख्यात, ऐतिहासिक ग्रन्थों यथा–रामायण महाभारतादि की उपजीव्य होती है। उनके नायक स्वतः ही नीतिज्ञ एवं सत्याचारी तथा धीरोदात्त नायकों की कोटि के होते हैं। अतः उन्हीं नाटकों का सृजन ठीक होता है।

उदाहरणार्थ शाकुन्तल की कथावस्तु में नायक धीरोदात्त है, कथा का मूल उद्गम स्रोत महाभारत है, उसी प्रकार भवभूतिकृत उत्तररामचरित की कथावस्तु का मूल रामायण है, इन ऐतिहासिक दोनों ग्रन्थों के नायक धीरोदात्त श्रेणी के हैं, तथा देव स्वरूप भी हैं।

उसी प्रकार मुद्राराक्षस में नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त कोटि का तो है, किन्तु नायक का मुद्राराक्षस में करणीय कर्म या नाटकीय चित्रण में उत्कृष्ट वंश की झलक प्राप्त नहीं होती है, वहां दासी पुत्र होने के पश्चात् भी नन्द के कारण प्रसिद्ध वंश उसमें घटाया ही जाता है, तथा कथा मूलरूप में वृहत्कथा से होने के कारण प्रसिद्ध ही है।

नायक की धीरोदात्त कोटि अथवा रचित नाटक के रसों में विपरीत प्रतीति होने की स्थिति में, कथावस्तु को रचनाकार द्वारा उत्कृष्ट बनाने के लिए बदल देना चाहिए। कवि द्वारा नाटक कीउत्कृष्टता के लिए दो ही कार्य किये जा सकते हैं, या तो नायकादि के चारित्रिक दोषों को अन्य पात्रों के ऊपर घटित करे, अथवा जो भी रसादि नाटक में विपरीत हैं, उस अंश का परित्याग कर दे।

अतः नाटक की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए काव्यों का उचित ग्रहण एवं अनुचित का त्याग करना चाहिए, जिसमें नाटकों की दोष शून्यता बनी रहे –

यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।।(दशरूपक– 3/24)

यथा– उदात्तराघव नामक नाटक के रचनाकार आचार्य मायुराज ने छल–कपट से राम द्वारा बाली को मारना आदि अनुचित दृश्यों का त्याग कर दिया, तथा उस दृश्य की चर्चा भी कहीं नही की,

आचार्य भवभूति ने अपने नाटक महावीरचरित में बालि वध को अन्य प्रकार से प्रस्तुत किया है, उन्होंने वहां रावण एवं बाली को मित्र बताया है, तथा रावण की ओर से बाली, मित्रता वश राम से युद्ध करता है, और राम द्वारा बाली की मृत्यु हो जाना वहां वर्णित है। क्योंकि राम धीरोदात्त नायक हैं, तथा उनके द्वारा किसी को छल–कपट से मारना, धीरोदात्त नायकत्व की श्रेणी के विपरीत है।

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तल की कथावस्तु पद्मपुराण से गृहीत है। वहां दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानना, अंहकार एवं लम्पटता थी किन्तु महाकवि कालिदास द्वारा

राजा दुष्यन्त का धीरोदात्त नायकत्व बनाये रखने के लिए दुर्वासा ऋषि के द्वारा शाप देने की कल्पना की गयी।

नाटक के रचनाकार द्वारा नाटक की कथा को इस प्रकार से निश्चित करना चाहिए, कि नाटक का प्रारम्भ एवं समापन स्पष्टतया दृष्ट हो, इसके अनन्तर कवि समस्त नाटक की कथा को निम्नवत् पांच भागों में विभाजित करे, जो कि पांच सन्धियों के रूप में कही गयी हैं–

आद्यन्तमेव निश्चित्य पंचधा तद्विभज्य च।
खण्डशः संधिसंज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत।। (दशरूपक– 3/25)

(उपरोक्त सन्धियों तथा उनके अंगों का विस्तृत वर्णन इकाई–19 में देखा जा सकता है।)

नाटक की कथा को प्रारम्भ से लेकर अन्तिम भाग तक आरेख द्वारा निम्नवत् देखा जा सकता है–

उपरोक्त आरेख से स्पष्ट है कि नाटक की कथा एक सीधी रेखावत् बढती है, सर्वप्रथम मुख से प्रतिमुख तक कथावस्तु सरल रेखा की तरह चलती है उसके पश्चात् नाटक गर्भसन्धि की ओर संघर्षावस्था को प्राप्त करके तिरछी होती है। फलप्राप्ति की इच्छा में वह विमर्शसन्धि तक आकर सीधी होती है एवं नायकाभिनय से फलप्राप्ति की पूर्णता को प्राप्त होती है। कुछ आचार्य नाटकीय कथावस्तु की प्रारम्भ, चरमोत्कर्ष एवं समापन तीन ही अवस्थायें मानते हैं।

इस प्रकार मुख के बारह, प्रतिमुख के तेरह, गर्भ के बारह, विमर्श के तेरह तथा निवर्हण सन्धि के चौदह भेदों सहित कुल 64 सन्ध्यंग होते हैं जो कि अधिकारिक इतिवृत्त के अंग भी कहलाते हैं।

प्रासंगिक इतिवृत्त के पताका भेद में पांचोंसन्धियों का होना आवश्यक नहीं होता है, इसमें न्यूनाधिक रूप में सन्धियां होती हैं, तथा अंगो का प्रयोग आवश्यकतानुसार होता है, एवं प्रकरी व सन्धि का समावेश यहां वर्जित होता है–

चतुः शष्टिस्तु तानि स्युरंगानीत्यपरं तथा।।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैश्नुसन्धिभिः।
अंगान्यत्र यथालाभमसन्धिंप्रकरी न्यसेत्।।(दशरूपक– 3/26–27)

नाटकीय कथावस्तु का प्रारम्भिक दृश्य यदि रसयुक्त नहीं है, एवं नाटक को आवश्यक रूप से समझने या गति प्रदान करने के लिए ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो, तो रस विहीन अंश को विस्तृत रूप में वर्णित न करके प्रस्तावना काल में इसकी सूचना विष्कम्भक द्वारा दिया जाना उचित होता है। जिससे सामाजिकों में रसभंग की स्थिति न हो, तथा नाटक आरम्भ होने से पूर्व ही उसके प्रति अनिच्छा का भाव दर्शकों में उत्पन्न न हो, और यदि नाटक के आरम्भ में ही कथावस्तु रमणीय एवं आनन्दयुक्त हो, तो ऐसी अवस्था में विष्कम्भक अथवा प्रवेशकादि का प्रयोग नहीं होना चाहिए, तथा

पात्रों द्वारा नाटक का आमुख आदि के अनुरूप अभिमंचन प्रारम्भ करना चाहिए। उपरोक्तवत् मालतीमाधव में भी रसहीन काव्यांश को विष्कम्भक द्वारा सूचित कराया गया –

'प्रकरण के आरम्भ होने से पूर्व तापसी मूलवस्तु को सूचित करती है, तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में रसमय कथा के कारण नाटक अंक से प्रारम्भ कर दिया गया है।'

अपेक्षितं परित्याज्य नीरसं वस्तुविस्तरम्।।
यदा सन्दर्शयेच्छेयं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते।।
आदावेव तदांकः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।(दशरूपक– 3/28–29)

विष्कम्भक के बाद अंक को उपस्थापित करते हैं –

जहां नायक स्वयं मंच पर उपस्थित होता है, या मंचित कथावस्तु उससे सीधे रूप में जुडी होती है, तथा अर्थप्रकृति के बिन्दुभेद की पूर्ण व्याप्त अवस्था भी हो और नानाविध नाटकके लक्ष्यों का उपस्थापन व रसों का आश्रय हो, तो उसे अंक कहते हैं–

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः।।
अंको नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

उपरोक्त प्रकार से अंक व्यवस्थापन के पश्चात् रचनाकार को प्रधानरस परिपुष्ट करना चाहिए, विभावानुभाव, व्याभिचारी भावों में भी आवश्यक तत्वों का अंगीकरण व अनावश्यक तत्वों का परित्याग करते हुए, अंगीरस का परिपोषण करना चाहिए, रस का पोषण इतना अधिक भी न किया जाये, कि नाटकीय कथावस्तु छिन्न–भिन्न हो जाये। वस्तु तथा रसादि का सम्यक् सन्तुलन नाटकको चरम की ओर ले जाता है। नाटक में वीर या श्रृंगार प्रधान रस होता है, तथा गौण रूप में कोई भी अन्य रस निबद्ध हो सकता है। निवर्हण सन्धि में अद्भुतरस का परिपाक होता है–

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः।।
गृहीतमुक्तै कर्तव्यमंगिनः परिपोषणम्।
न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत।।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः।
एको रसोंऽगी कर्तव्यो वीरः श्रृंगार एव वा।।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निवर्हणेऽद्भुतम्। (दशरूपक– 3/31–33)

इस प्रकार उपरोक्त का सम्यक् रूप से सन्निवेश करने के पश्चात् कवि को निम्न दृश्यों को नाट्यमंच पर नहीं दिखाना चाहिए, जैसे– मृत्यु, युद्ध, आन्तरिक प्रजा की क्रान्ति,दुर्ग को घेरना, रति, स्नान, वस्त्र धारण, शारीरिक लेपन, भोजन आदि वर्जित है।इसकी सूचना अंकों के माध्यम से न देकर विष्कम्भक अथवा प्रवेशक द्वारा दी जानी चाहिए, साथ ही नायकादि की मृत्यु की सूचना भी नहीं देनी चाहिए, देव–पितृ सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्यों की किसी भी रूप में उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए –

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्वरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।।
नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च।(दशरूपक– 3/34–35)

एक अंक में कथावस्तु की योजना इस प्रकार से की जानी चाहिए, कि वह मात्र एक दिवसीय कथांश हो, तथा समान अर्थ में निबद्ध होना चाहिए, रंगमंच में कथा, नायक के आसपास ही हो, तथा अधिक पात्रों का समावेश न हो, तीन अथवा चार पात्रों का प्रवेश होता है, तथा अन्त में समस्त पात्रों का मंच से निकल जाना उचित होता है।

नाटक के साथ–साथ आगे के भावों की सूचना हेतु पताकास्थानकों का सम्मिश्रण आवश्यक रूप में हो, अर्थप्रकृति के बिन्दुभेद की योजना के साथ–साथ अन्त में सामंजस्य का उचित स्थापन हो, पात्रों की मंच पर आवागमन की उचित अंकयोजना होनी चाहिए, उत्कृष्ट नाटक दश अंकों का तथा निम्न पंचाक युक्त होता है।

सामान्यतया नाटकों में अंकों की संख्या पांच से दस के मध्य होती है। संस्कृत साहित्य में रचित अधिकांश नाटकों में अंकों की संख्या सात देखी गयी है, यथा– अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित,मुद्राराक्षस आदि। वेणीसंहार छः अंको से युक्त तथा विक्रमोर्वशीय पांच अंको का नाटक है–

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्।।
पात्रैस्त्रिचतुरैरकं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः।
पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत्।।
एवमंका प्रकर्तव्याः प्रदेशादिपुरस्कृताः।
पंचांकमेतदवरं दशांकं नाटकं परम्।।(दशरूपक– 3/36–38)

20.3.1.5 नाटक मंचन हेतु महत्वपूर्ण तथ्य

प्राचीन आचार्यो द्वारा सृजित नाटकों में पात्रों की अनावश्यक अधिकता नहीं देखी जाती है, कई बार दृश्यों को दिखाने आकाश–भाषित पात्रों की योजना की जाती रही हैं। नाटकीय कथावस्तु में जिन दृश्यों एवं पात्रों का उल्लेख मिलता है, उनकी उपस्थिति प्रायः नाटकों में होती ही है। यदि नाटककार द्वारा नाट्यप्रक्रियाओं एवं परम्पराओं की जहां पर भी अनदेखी की जाती है, वहां पर स्वतः ही त्रुटियों का आभास होने लगता है, वहीं पर जब एक नाटक का सृजन नाट्यशास्त्रीय प्रणाली से होता है, तो समस्त नाट्यविधा के नियम स्वयमेव घटित होते हुए दृष्टिगत होते हैं, जो कि शास्त्रानुकूल है। भारतीय नाट्यपरम्परा में विश्वास करने वाले आचार्यों तथा उनके द्वारा लिखित नाटकों में उपरोक्त तत्वों का उचित आदर एवं स्थान है।

दशरूपक सहित नाट्यशास्त्रादि ग्रन्थों में पात्रों द्वारा रंगमंच में प्रवेश करने, अभिनय करने तथा रंगमंच से निकलने के ढंगों का विवरण भी प्राप्त होता है। यह अभिनय को अत्यन्त रोचक ढंग से सहृदयी दर्शकों तक पहुंचाने के लिए किया जाता है। प्राच्य नाटकों के मंचन के समय आरम्भ में नान्दीपाठ एवं सूत्रधार का परस्पर नाटक के प्रस्तुतिकरण पर वार्तालाप होता है, किसी भी प्रकार के अमंगल का नाश करने तथा निर्विघ्नतया नाटक की पूर्णता की कामना नान्दीपाठ से की जाती है–

आशीर्वचनसंयुक्तास्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विज नृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।(सा0दर्पण– 6/11)

तदन्तर नाटक के रचनाकार की प्रशंसा एवं नाटक की मूलकथा का प्रस्तुतिकरण होता है। मूलकथा के संयोजन की दृष्टि से प्रस्तावना के पांच प्रकार माने गये है–

1. उद्घातक 2. कथोद्घात 3. प्रयोगातिशय 4. प्रवर्तक 5. अवगलित।

दृश्य एवं पात्रों की आवश्यकता के अनुसार जहां अर्थ की प्रतीति न हो रही हो, वहां प्रतीत्यर्थ हेतु कुछ शब्दों का संयोजन करना उद्घातक कहलाता है। यथा–मुद्राराक्षस में क्रूरग्रहादि। जहां पर सूत्रधार के कथनानुसार मंच पर पात्र प्रवेश करता है, वह कथोद्घात कहलाता है। यथा रत्नावली के सूत्रधार के कथन पर नेपथ्य से यौगन्धरायण का प्रवेश होता है। एक ही प्रयोग के आधार पर पात्रों का प्रवेश हो, तो प्रयोगातिशय कहलाता है। यथा कुन्दमाला में 'इतइतः' इत्यादि। जहां नेपथ्य की ओर सूत्रधार को 'कोऽयम्' कहने पर ऋतुवर्णन समय में पात्र प्रवेश करे, तो प्रवर्तक कहलाता है। तथा जहां सादृश्य के आधार पर किसी पात्र का होना या सूचन सिद्ध हो, उसे अवगलित कहते हैं।

20.3.1.6 नाटक मंचन में निषिद्ध तथ्य

नाट्याचार्यो द्वारा नाटकों का मंचन करते समय निषिद्ध कार्यो की ओर भी संकेत किया गया है। जिन्हें मंच पर दिखाया जाना उचित नहीं है–

किसी प्रसंग को अत्यधिक वृहद् रूप में प्रस्तुत करना, चुम्बन करना, शयनादि, लज्जायुक्त वचन बोलना, रतिक्रिया सम्बन्धी दृश्य, दांत काटना, नाखून चुभाना, मल–मूत्रादि का विसर्जन करना, उच्च स्वर में आह्वान करना, मृत्यु, युद्ध, वध करना आदि कार्य मंच में दिखाये जाने वर्जित किये गये हैं।

उपरोक्त समस्त निषिद्ध तथ्य प्राचीन नाटककारों द्वारा वर्जित थे, इसलिए संस्कृत नाटकों में उक्त निषिद्ध तथ्यों का मंचन भी प्राप्त नहीं होता है। आचार्यो की मान्यता थी, कि प्राचीन काल में इसप्रकार के नाटकों के मंचन सें दर्शकों में दुःख एवं क्षोभ की भावना फैलती है।

पाश्चात्यसंस्कृति युक्त चलचित्रों ने नाटक मंचन के सभी निषिद्ध तथ्यों को अपनाकर, महत्वपूर्ण करणीय नियमों को विस्मृत कर दिया है, तथा समस्त निषिद्ध एवं गरिमाविहीन दृश्यों की चलचित्रों में भरमार देखी जाती है। यही वर्तमान में युवक–युवतियों के चारित्रिक पतन का कारण है।

20.3.2 प्रकरण

प्रकरण रूपक का द्वितीय भेद है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से है–

''प्रकर्षेण क्रियते कल्पयते, नेता, फलं वस्तु वा व्यस्तसमस्तस्ततयेति तत् प्रकरणम्''

प्रकरण का स्वरूप साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने षष्ठपरिच्छेद में किया है। प्रकरण में कथावस्तु लौकिक तथा कवि द्वारा कल्पना की गई होती है, जिसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक नही होती है। प्रकरण में मुख्य रस श्रृंगार ही होता है, नायकों की

श्रेणी ब्राह्मण, आमात्य या वणिक वर्ग की होती है। यहां धीरप्रशान्त नायक होता है। जो विघ्नपूर्वक पुरुषार्थत्रय (धर्मार्थकामादि) में कुशल होता है, अर्थात् नायक कठिन जीवन का निर्वाहक होता है

प्रकरण में नायिका तीन प्रकार की स्वीकृत हैं। प्रथम– उत्कृष्ट घर में जन्म लेने वाली (कुलीना), द्वितीय– गणिका (वेश्या) तथा तृतीय दोनों ही प्रकार की होती हैं। जैसे मृच्छकटिक (प्रकरण ग्रन्थ) की वसन्तसेना भी नायिका तथा गणिका दोनों है। इसमें अंकों की संख्या पांच से दस हो सकती है। प्रकरण का तृतीय भेद– जहां कुलीना नायिका तथा गणिका दोनों होती हैं। वह तृतीय भेद वाली ''कुलजा–वेश्या–नायिका–द्वयात्मक'' है, वह प्रकरण धूर्त, जुआरी, विट–चेटादि से परिपूर्ण होता है। पुष्पभूषित में नायिका कुलस्त्री है। गणिका रंगवृत्त में हैं, तथा उभयविध मृच्छकटिक में प्राप्त होते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। पंचसंधियुक्त कल्पित कथावस्तु होती है–

भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
श्रंगारोंऽगी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।।
सपायो धर्मकामार्थ परो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापिद्वयंक्वचित्।।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्युतकारादिविटचेटकसंकुलः।।(सा0दर्पण– 6/224–227)

आचार्य धनंजय के अनुसार भी प्रकरण में नायक तथा नायिका, नाटक से भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी अंग नाटकवत् ही स्वीकृत किये गये हैं–

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसंश्रयम्।
आमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्।।
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत् सन्धिप्रवेशकरसादिकम्।।
नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।।
कुलजाभ्यान्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।
एभिः प्रकरणं त्रेधा संकीर्णं धूर्त संकुलम्।।(दशरूपक– 3/39–42)

20.3.3 भाण

आचार्यो के अनुसार भाण रूपकोंका तृतीय भेद है। यह धूर्त चरितयुक्त, नानावस्थाओं में परिपूर्ण तथा एकांकी होता है, इसमें विट ही एक ज्ञानी एवं निपुण माना जाता है जो रंग में स्वानुभूत एवं परानुभूत बातों का प्रकाशन करता है। उक्तियों–प्रत्युक्तियों को आकाशभाषण द्वारा किया जाता है। श्रृंगार एवं वीरादि रसों का संसूचन शौर्य–सौभाग्यादि के वर्णन से किया जाता है। इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। मुख्य रूप से भारतीवृत्ति प्रयुक्त होती है। किन्हीं–किन्हीं प्रकरणों में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। यहां निवर्हण व मुख संधि का प्रयोग होता है–

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।
एकांक एक एवात्र निपुणःपण्डितो विटः।।
रंगो प्रकाशयेत् स्वेनानुभूतमितरेण वा

सम्बोधनोक्ति प्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेदीवरश्रृंगारो षौर्य–सौभाग्य वर्णनैः।।
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुखनिवर्हणे संधी लास्यांगानि दशापि च।।(सा0दर्पण– 6/227–230)

इसका प्रमुख उदाहरण 'लीलामधुकर' है। इसके पश्चात् भाण को दशरूपककार द्वारा निम्नवत् वर्णित किया गया है।–

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूत परेण वा।
यत्रोपवर्णभेदेको निपुणःपण्डितो विटः।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ति कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीरश्रृंगारौ षौर्य सौभाग्यसंस्तवैः।।
भूयसाभारतीवृत्तिरेकांकं वस्तुकल्पितम्।
मुखनिवर्हणेसांगे लास्यांगानि दशापि च।।(दशरूपक– 3/49–51)

इसके पश्चात् दशविध लास्यांगों का वर्णन किया जा रहा है–

1. **गेयपद**– रंगपीठ में एक ओर बैठे हुए, गायक एवं वाद्ययन्त्रों को बजाने वाले लोगों द्वारा बिना अभिनय किये जो गान गाया जाता है, उसे गेयपद कहते है।
2. **स्थितपाठ्य**– किसी विरहिणी द्वारा गाया जाने वाला प्राकृत गान स्थितपाठ्य कहलाता है। यह सन्दर्भ रसानुपयोगी होता है।
3. **आसीन**– यह सुकुमार काकली प्रत्यप्रमदगीत है, जो बिना वाद्य के शोकयुक्त गान होता है, इसमें गायिका के अंग संकुचित होते हैं।
4. **पुष्पगण्डिका**–जिस प्रकार नानाविध विभिन्न पुष्पों से युक्त माला का निर्माण सुन्दर प्रतीत होता है, वैसे ही स्त्री गायन, गीत एवं नृत्य का समवेत रूप में चेष्टा पूर्वक पुरुष का आश्रय प्राप्त कर अभिनय करती है, वह पुष्पगण्डिका कहलाता है।
5. **प्रच्छेदक**– जहां नायक किसी अन्य नायिका के प्रति आकर्षित रहता है, तथा नायिका उसकी छाया देखकर नायक के प्रति आकृष्ट रहे, वह प्रच्छेदक कहलाता है।
6. **त्रिगूढ**–जिसमें कोमलकान्त पदावली, अलंकारों तथा रंजक छन्दों से युक्त वाणी का रमणीय अभिनय होता है, तथा मुग्ध नायिका पुरुष पात्र के रूप में अभिनय करती है। उसे त्रिगूढ कहते हैं।
7. **सैन्धव**– इसमें नायक सिन्धु देश के प्राकृत गान का गायन करता है। नायिका का नायक से मिलन न होने के कारण, जब वह वीणादि के साथ गाती है। सैन्धव कहलाता है।
8. **द्विगूढक**– इसमें मनोरम भावों और रस से युक्त होकर रंगमंच में चारों ओर भ्रमण करते हुए नृत्य होता है।
9. **उत्तमोत्तमक**– जहां हेला भाव के साथ अभिनय तथा अनेक रसों से युक्त श्लोकादिकों का पाठ होता है। वह उत्तमोत्तमक कहलाता है।

10. **उत्तप्रयुक्त** – जहां क्रोध, प्रसाद तथा आक्षेप विषयक होते हैं, एवं चित्रगीतों की योजना देखी जाती है। वह उत्तप्रयुक्त लास्यांग होता है। भारती वृत्ति मुख्य रूप से होने के कारण इसे भाण की संज्ञा दी गयी है।

20.3.4 प्रहसन

जिसमें हास्य रस की प्रधानता हो, भाणवत् सन्धियां, सन्धियों के अंग (सन्ध्यंग), लास्यांग एवं अंकयुक्त मंचित हों, और निम्नपुरुषों के कवि–कल्पित वृत्तान्त प्रहसन की श्रेणी में आते हैं। आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक व प्रवेशकादि से हीन होते हैं, तथा वीथ्यंग कहीं– कहीं दृष्टिगत होते हैं। यह एक या दो अंकों से युक्त होता है। कामुक, भ्रष्ट, पाखण्डी, तपस्वी, संन्यासी आदि में से धृष्ट नायक होता है–

भाणवत् सन्धिसन्ध्यंगलास्यकैर्विनिर्मितम्।
भवेत् प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।।
अत्र नारभटी नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ।
अंगी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थितिर्न वा।।(सा0दर्पण– 6/264–265)

प्रहसन शुद्ध एवं संकीर्ण दो भेदों वाला होता है –

1. **शुद्ध प्रहसन**–यह कामुकों, पाखण्डियों, विप्र–विट–चेटादिकों से युक्त होता है, किन्तु इसमें वेष तथा शब्दादिकों का भाषिक प्रयोग एवं पात्रों की चेष्टा शुद्ध ही होती है, जो हास–परिहास युक्त होती है, कामुक पात्रों की वेश–वाणी, नपुंसकादि द्वारा उत्पन्न हास्य, विकृत प्रहसन की श्रेणी में आता है।

2. **संकीर्ण प्रहसन**–विकृत प्रकार के प्रहसनमें जब वीथी संयुक्त हो जाय, वह संकीर्ण प्रहसन होता है। इस हास्य के छः भेद है–

   स्मित, हसित, विहसित, अपहसित, अतिहसितादि।

शुद्ध प्रहसन एक अंक में तथा संकीर्ण प्रहसन विस्तृत एवं कई अंकों का होता है–

तद्वत् प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसंकरैः।
पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटिविटाकुलम्।।
चेष्टितवेशभाषाभिः शुद्धहास्यवचोन्वितम्।
कामुकादिवचोवेषैः षण्डकंचुकितापसैः।।
विकृतसंकराद्वीथ्या संकीर्णं धूर्तसंकुलम्।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु।।(दशरूपक– 3/54–56)

20.3.5 डिम

विख्यात कथायुक्त (रामायण आदि से गृहीत) डिम कहलाता है। इसमें आरभटी एवं सात्त्वती, भारती वृत्तियां होती हैं। कैशिकी वृत्ति का डिम में अभाव होता है। इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, नागादि विभिन्न श्रेणियों के षोडश नायक होते हैं। श्रृंगार एवं हास्य रस को छोडकर अन्य सभी छः रस उदीप्त होते हैं, माया, भ्रम, इन्द्रजाल, युद्ध, कोप, घबराहट आदि चेष्टायें होती हैं। चन्द्र तथा सूर्य ग्रहण के दृश्य भी होते हैं। मुख्य रूप में प्रधान (अंगी) रस रौद्र होता है। इसमें चार ही अंक होते हैं।

तथा विमर्श को छोडकर अन्य चारों सन्धियां होती हैं। प्रवेशक तथा विष्कम्भक डिम में नहीं होते हैं।

'डिम संघाते' धातु से डिम शब्द बना है। डिम का शाब्दिक अर्थ ''संघात'' अर्थात् ''समूह'' होता है। आचार्य धनिक डिम का अर्थ संघात (मारपीट) तथा अभिनवगुप्त विद्रव (भगदड) मानते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार–

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
उपरागेश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेर्वृत्तकः।
अंगीरौद्ररसस्तत्र सर्वेऽगानि रसाः पुनः।।
चत्वारोऽका मतानेह विष्कम्भकप्रवेशकौ।
नायकाः देवगन्धर्वयक्षरक्षमहोरागाः।
भूतप्रेतपिशाचाद्या षोडशात्यन्तमुद्धताः।।
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शास्तु सन्धयः।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यश्रृंगारवर्जिताः।। (सा0दर्पण– 6/241–244)

डिम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है, इसमें डिम के नियमों का सम्यक् पालन हुआ है। आचार्य धनंजय के अनुसार डिम निम्नवत् है–

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकी विना।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।।
भूतप्रेतपिशाचाद्या षोडशात्यन्तमुद्धताः।
रसैरहास्यश्रृंगारैः शडभिर्दीप्तैः समन्वितः।।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेंऽगिनि।।
चतुरंकश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः। (दशरूपक– 3/57–59)

20.4 सारांश

ज्ञान की परम्परा के मुख्य स्रोत वेद हैं, इसलिए कहा गया है– सर्वज्ञानमयो हि सः, सर्व वेदात् प्रसिद्धयति।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि समस्त विद्याओं का मूल वेद ही है। प्राचीन समय में वेदाध्ययन के अधिकारी सभी नहीं थे, उच्च जाति के ब्राह्मणादि को ही वेद पढ़ने का अधिकार था। निम्न जातियों को वेद का ज्ञान कैसे हो, इस हेतु पंचमवेद के रूप में ''नाट्यवेद'' की स्थापना हुई–

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातीषु।
तस्मात्सृजाऽपरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्।।(ना0 शा0– 1/114)

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है, कि नाट्य, भारतीय प्राच्य–परम्परा में अभिनय का प्रमुख केन्द्र रहा है, वर्णित इकाई में नाट्य अथवा रूपकों के पांच प्रकारों का वर्णन विस्तार से किया गया है। मुख्य रूप में यह कहा जा सकता है, कि नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन एवं डिमके माध्यम से नाट्य जगत को अभिनय की सामर्थ्य, रसों के ज्ञान से रसास्वादन प्राप्ति का बोध तथा उपरोक्त पांचों कथावस्तुओं के अभिनयीय नियमों की

जानकारी प्राप्त होती है। नाट्य, अथवा रूपक, ज्ञान एवं मनोरंजन प्राप्ति का सबसे सुलभ मार्ग है, जिससे बुद्धिवर्धन, यशप्राप्ति सहित आनन्दानुभव की सहज सिद्धि होती है।

काव्य श्रव्य तथा दृश्य दो भागों में विभाजित है। नाट्य को दृश्य काव्य की परम्परा का वाहक माना गया है, यह भी मुख्य एवं गौण दो प्रकार का होता है, मुख्य को रूपकों तथा गौण को उपरूपकों के सम्बन्ध में व्यवहृत किया गया है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत आने वाले रूपकों का अभिधेय लक्ष्य, रंगमंच पर कथा के मंचन को सुलभ, आकर्षक एवं सुन्दर बनाना है। इसीलिए नाट्य का दूसरा रूप रंगमंच कहलाता है। आचार्य धनंजय का रंगमंच के सन्दर्भ में संकेत प्राप्त नहीं होता है, किन्तु आचार्य भरत द्वारा लगभग दो हजार वर्षों पहले ही रंगमंच के सन्दर्भ में अवगत करा दिया गया है।

20.5 शब्दावली

1. अघायु – बुराई करने वाला, द्रोही।
2. अंग – आमात्य, स्वामी, दुर्ग, राष्ट्र।
3. उद्गीतक – गायक, प्रशंसा करने वाला।
4. उपशय – छिपकर बैठने का स्थल।
5. एकगम्य – परब्रह्म।
6. झार्झर –ढोलकिया (ढोलक वाद्य बजाने वाला)
7. जिहीर्षा –हरने की इच्छा
8. चेट –नौकर
9. घण्टापथ –राजमार्ग, राजा के आवागमन का मार्ग ।
10. गुप्तिबन्ध – सुरक्षा रचना।
11. स्वैर – स्वेच्छाचारी, कामुक।
12. सात्विक – अकृत्रिम, सत्व गुण वाला।
13. शूर्पारक – सोपारा, एक प्राचीन जनपद नासिक में।
14. विभूति – ऐश्वर्य, समृद्धि, महिमा।
15. रक्ति – अनुराग।
16. योषिता – युवती।
17. मुक्तिकासर – मौक्तिक हार।
18. वीभत्स – घृणाजनक।
19. प्ररोचन – उत्तजेन, उकसाने वाला।
20. नान्दी – नाटक का मंगलाचरण।
21. प्रेक्षागृह – रंगमंच, नाट्यभवन।
22. द्विप्रव्राजिनी – दो पुरुषों के पीछे जाने वाली स्त्री, कुलटा।
23. जवनिका – परदा।
24. चमूपति – सेनापति।
25. गोप्तृ – नायक, राजा, रक्षक।
26. गजगति – हाथी जैसी चाल।

27. अनुकृति – अनुकरण (अनुशरण)।
28. सुखागम – सुख का आगमन (फलप्राप्ति)
29. कला – नृत्यगीतादिक।
30. चण्ड – रौद्र।
31. मार्ष – पारिपार्श्विक।
32. व्याकीर्ण – विक्षिप्त।
33. त्रिवर्ग – धर्म, अर्थ, काम (पुरुषार्थत्रय)
34. उपसंहृति – उपसंहार।
35. पुष्पस्तरण – पुष्प सज्जा।
36. शयनरचन – शैय्या निर्माण।
37. उदकाघात – जलक्रीडा।
38. भूषण योजन – आभूषण निर्माण।
39. अलावचक्र – नाट्य, गीत तथा वाद्य का एकीभाव।
40. निर्मुण्ड – नपुंसक।
41. कुमारिका – लज्जाशीला, उत्तेजनाविहीना।
42. शिल्पकारिका – कलानिपुणा।
43. पादनिक्षेप – कदम(मापन के डग)
44. माल्यकृत – पांचप्रकार की पुष्प मालाओं का निर्माता।
45. वेषकार – पात्रों की वेशभूषा की देखभाल करने वाला।
46. कुशीलव – अनेक वाद्यों को बजाने वाला, चारण।
47. उद्धर्ष – आनन्दोत्सव।
48. कक्षावेक्षक – अन्तःपुर की देख–रेख करने वाला।
49. कामकला – रति।
50. ताण्डविका – नाटयित्री(नृत्यांगना)
51. दाक्षिण्य – नम्रता, शालीनता।

20.6 बोध प्रश्न

1. रूपक किसे कहते हैं। रूपकों की रचना के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
2. रूपक, नाट्य एवं नाटक में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. नाटक किसे कहते हैं। किन्हीं नाटकों का उदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. प्रकरण से आप क्या समझते हैं। स्पष्ट कीजिए।
5. भाण को समझाते हुए, उदाहरण प्रतिपादित कीजिए।
6. नाट्य जगत मेंप्रहसनों की भूमिका बताइए।
7. डिम पर स्वविचार स्पष्ट कीजिए।
8. नाट्य शब्द की व्युत्पति करते हुए, नाट्य के स्वरूप को व्यक्त कीजिए।

20.7 सन्दर्भित पाठ्य पुस्तकें / सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दशरूपक, – डा0 भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन, चौक वाराणसी– 2011
2. संस्कृत के प्रतीक नाटक और अमृतोदय– डा0 कैलाशनाथ द्विवेदी, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, 222, किशन पोल वाजार जयपुर (राज0)– 2008
3. नाट्यशास्त्र – श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी– 2012
4. संस्कृतरूपकों में पूर्वरंगविधान– डा0 रामप्रमोल कुमार, शिवालिक प्रकाशन, 27/06 शक्तिनगर, दिल्ली–2010
5. अधुनिक संस्कृत नाट्यसाहित्य और सौन्दर्य कलाशास्त्रीय तत्व– डा0 रीता तिवारी– प्रतिभा प्रकाशन, अजेन्द्रमार्केट, प्रेमनगर दिल्ली–2008
6. संस्कृत नाटककार– कान्ति किशोरभरतिया– हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ– 1968

इकाई 21 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण भाग–02 – व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक, ईहामृग, नाटिका

इकाई की रूपरेखा

21.1 उद्देश्य

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- नाट्य भेद के अन्य लक्षणों में व्यायोग का वर्णन कर सकेंगें।
- समवकार को परिभाषा सहित बता पायेंगें।
- वीथी की परिभाषा तथा उदाहरण का उल्लेख कर पायेंगें।
- अंक को परिभाषित कर पायेंगें।
- ईहामृग का उदाहरण देते हुए वर्णन कर सकेंगें।
- नाटिका का परिचय और विकास क्रम समझा सकेंगें।

21.2 प्रस्तावना

दृश्यकाव्य को सामान्य रूप में नाट्य कहा गया है। अभिनय करने वाले पात्रों द्वारा किसी अन्य के अभिनय को अपने माध्यम से करने का आरोप करते हैं, इसलिए नाट्य का अपर नाम 'रूपक' भी है। प्रस्तुत इकाई में पांच नाट्यभेद (व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहामृग)वर्णित किये जा रहे हैं।

नाटक के अभिमंचन के समय दर्शकों को किसी भी रूप में अपने मस्तिष्क के प्रयोग करने की आवश्यकता नही होती है, एवं नाटक के प्रारम्भ होते ही रसास्वाद व आनन्द उत्पन्न होने लगता है, इसीलिए दृश्य काव्य सुविधाजनक रूप में सभी वर्गों हेतु ग्राह्य होता है। दशरूपककार ने वाक्यार्थ से पूर्ण अभिनयों द्वारा, रस की उत्पत्ति करने को नाट्य स्वीकार किया है–

वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयम् ।(दशरूपक– 1/9)

मुख्यरूपेण संस्कृतकाव्याचार्यों ने नाट्य को दो भेदों में विभजित किया गया है–

1. रूपक 2. उपरूपक

रसप्रधानता रूपकों में होती है, जो दस माने गये हैं, तथा आचार्य भरत ने उपरूपकों को 18 बताया है, किन्तु आचार्य धनंजय तथा धनिक ने उपरूपकों को वर्णित नहीं किया है। दशरूपक के तृतीय प्रकाश में उपरूपकों में से मात्र नाटिका का उल्लेख मिलता है।

वस्तुतः उपरूपक कई भेदों में तो रूपकों के ही अन्य रूप है।

भारतीय काव्यपरम्परा में नाट्यालोचन का महत्वपूर्ण स्थान है, इस परम्परा के अनुसार संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति ईसा प्रथम शताब्दी में हो गयी थी, इस आधार पर महाकवि भास के नाटकों में सर्वप्राचीनता देखी जाती है। संस्कृतनाट्यों की उत्पत्ति में किसी एक पक्ष का ही महत्व नहीं है, बल्कि यह क्रमिक विकास की प्रक्रिया से हुआ, जिसमें कुछ तत्व वेद से, कुछ इतिहास–पुराणों से तथा कुछ लोक गायन की परम्पराओं से लिये गये हैं, भारतीय नाट्यपरम्परा अनेकानेक तत्वों के मिश्रण का फल है, जो कई शताब्दियों के विकास का परिणाम है।

21.3 नाट्यभेद एवं उनके लक्षण (भाग–2)

संस्कृत साहित्य में नाटकपरम्परा अद्वितीय रूप से चली आ रही है, नाटक साहित्य, सामाजिकों में सबसे लोकप्रिय एवं सर्वाधिक प्रचलित रहा है। वैदिक काल से ही नाटकों की परम्परा का सम्यक् रूप से अस्तित्व प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृत नाटकों की परम्परा में नाटकों की उत्पत्ति भगवान ब्रह्मा के द्वारा त्रेतायुग में की गयी। ऐसी मान्यता है कि सतयुग में सामाजिकों को रसास्वादन सम्बन्धी साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। त्रेतायुग में देवताओं के निवेदन पर शूद्रों के निःश्रेयस के लिए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की क्योंकि निम्न जाति के लिए वेदादि का अध्ययन निषिद्ध था, इसलिए चार वेदों के बाद पंचम वेद को रचा गया। इस पंचमवेद के पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस चार अंग हुए। नाटकों के कई तत्वों में से मुख्य दो तत्व हैं।

(1)संवाद तथा (2) अभिनय।

1. **संवाद** – संवाद तत्व का उद्गम ऋग्वेद में वर्णित है। इसलिए नाटक की सम्पूर्ण उद्भव एवं विकास यात्रा वैदिक साहित्य से उद्भूत होकर चली आ रही है। ऋग्वेदस्थ लगभग 15 सूक्तों में संवाद तत्व (सूक्त) की चर्चा है। कुछ संवाद तत्व निम्नवत् हैं–

(1). इन्द्रमरुत संवाद (1/165/1/170), 2. यम–यमी संवाद (10/10), 3. पुरुरवा–उर्वशी संवाद (10/95), 4. विश्वामित्र–नदी संवाद (3/33), आदि प्रमुख हैं, अन्य संवाद सूक्तों में अगस्त्य–लोपा मुद्रा संवाद (1/179), इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकपि संवाद (10/86) आदि।

मैक्समूलर ने भी माना है कि उपरोक्त संवाद सूक्तों का पाठ पृथक्–पृथक् ऋत्विकों द्वारा यज्ञार्चनादि में अलग पात्रों (मरुत, इन्द्र) के संवादों (मन्त्रों) द्वारा होता है। प्रो० सिलवां लेवी ने भी मैक्समूलर की मान्यता की पुष्टि की है और कहा है कि ऋग्वेद काल में भी नाट्याभिनय एवं संवादों की परम्परा यज्ञादि के समय निश्चित रही होगी, वही क्रमिक विकास के रूप में आज हमें विरासत के रूप में प्राप्त है।

श्रोएदर एवं हर्शेल ने इस मत का समर्थन किया है कि नाटकों में बीजरूप में मन्त्रों एवं सूक्तों के संवाद एवं अभिनय उपस्थित हैं। हर्शेल ने कहा है कि संवाद सूक्त गाये जाते रहे हैं, इसलिए एक ही व्यक्ति के द्वारा समस्त संवाद सूक्तों का गायन संभव नहीं है। अतः कई सूक्त मिलकर गाये जाने वाले प्राप्त होते हैं। इन संवाद सूक्तों से ही नाट्यकला का आरम्भ हुआ है। श्रोएदर ने उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के कुछ संवाद सूक्तों का वर्णन किया, जिनमें संवाद और अभिनय दोनों तत्वों की उत्पत्ति देखी गयी। ऋग्वेदस्थ मण्डूक सूक्त (7/102) के अनुसार ब्राह्मण मेंढकों से भरे जल के तालाब में खडे होकर इस सूक्त का गान करते थे। तथा सोमसूक्त नवम मण्डल(112) के सम्बन्ध में भी यही मत था किन्तु यह सारहीन है। इस प्रकार के मतों का खण्डन श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अपने अभिनवनाट्यशास्त्र में किया। उन्होने स्पष्ट किया कि संवादों से नाटकों की उत्पत्ति हुई है। ऐसा मानना तर्कसंगत है।

2. **अभिनय** – नाटक साहित्य में अभिनय एक प्रायोगिक क्रिया है, तथा अभिनय ही नाट्य का आत्मतत्व होता है।

अभिनय शब्द अभि उपसर्गपूर्वक 'नी' (ले जाना) धातु से निर्मित हुआ है। नाटक को 'अभिमुख' यानि कि 'उन्नति' की ओर ले जाने वाला ही अभिनय कहलाता है। आचार्य भरत द्वारा अभिनय में पात्र अनुकार्य नटादि की अवस्था विशेष का अनुकरण करता है। पात्र अपने अंगों के अभिनयों एवं शब्दों के समुचित व्यवहार से अभिनयानुकूल मनोरम भाव–भंगिमाओं के द्वारा सामाजिकों को रसास्वाद एवं आनन्द की अनुभूति कराता है, इसीलिए ये पात्र अभिनेता कहे जाते हैं।

पात्र अपने उत्कृट अभिनय के माध्यम से सहृदयी दर्शकों में सौन्दर्य एवं रस की अभिव्यक्ति उत्पन्न करता है। अनुकार्य के हृदयस्थ भावों को अभिव्यक्त करने का माध्यम अभिनय है। आचार्य भरत के अनुसार शाखा, अंग–उपांग आदि इसके भेद रूप हैं –

विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः।
शाखांगोपांगसंयुक्तः तस्मादभिनयः स्मृतः।। (ना०शा०– 8/7)

काव्य अभिनय किये जाने के पश्चात् नाट्य होता है, नाट्य में रस की प्रधानता होती है। पात्राभिनय, नाटक एवं रसों की युति ही रसानुकरण से उन्नत प्रक्रियायें प्राप्त

कराती है, पात्र चार प्रकार के माध्यमों से अभिनय करता है। इन्ही प्रक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए अभिनय को चार भागों में विभाजित किया गया है –

1. आंगिकाभिनय 2. वाचिकाभिनय 3 सात्त्विकाभिनय 4 आहार्याभिनय ।

आचार्य भरत के अनुसार नाट्य में अभिनय का प्रादुर्भाव यजुर्वेद से हुआ है। यजुर्वेद में यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की चर्चा है, जिसमें पुरोहितों द्वारा कार्मकाण्ड क्रियाओं एवं प्रदक्षिणा आदि अभिनय अंग हैं। जिसमें अभिनय का क्रमिक विकास प्राप्त होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनय को नाटक का प्राण स्वीकृत करते हुए रस एवं भावाभिव्यक्ति के बाद अभिनय को ही स्वीकार किया है–

अभिनयाष्च लौकिकं धर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामायिकं वानुवर्तन्त इत्यवस्तदनन्तरं धर्मी।

1. **आंगिकाभिनय** – पात्रों के द्वारा जब नाटकों में विभिन्न प्रकार से स्वांगों–उपांगों, हाव–भावों से सरल अभिनय किया जाता है, तो उसे आंगिक अभिनय कहा जाता है। अतः अंगों के माध्यम से किया जाने वाला अभिनय आंगिक होता है। वे अंग एवं उपांग छः भेदों में विभाजित है। जो निम्नवत् हैं–

   अंग –सिर, हस्त, वक्ष, बाहु, कटि एवं उभयपाद।

   उपांग –नयन, भ्रू, नासिका, अधरोश्ठ, कपोल एवं चिवुक (ठुड्डी)।

   उपरोक्त आंगिक अभिनय नृत्य एवं नाटक हेतु महत्वपूर्ण हैं। सुन्दर एवं मनोरम भावों की अवस्थाविशेष का संचालन प्रत्येक अंगाभिनय द्वारा किया जाता है। श्रृंगारादि प्रत्येक रसों के अभिनय की एक विशिष्ट दशा होती है। यथा नेत्रों से प्रेमादि का चपल अभिनय, सिर का कम्पन, मुख में लालिमा, अंगों का फडकना, (वीर रस में) आदि।

2. **वाचिकाभिनय** – वाकाभिनय ही वाचिक अभिनय कहलाता है। अर्थात् सुस्पष्ट वाणी में उच्चारणपूर्वक कही जाने वाली उक्तियां, सुन्दर एवं रमणीय भाषाशैली युक्त तथा स्वरों के साथ छन्दों का आनन्दपूर्वक गायन ही वाचिक अभिनय होता है। वाणी नाटक का शरीर है, तथा वाणी के अतिरिक्त जगत में सुलभ ज्ञान का माध्यम कोई नही है। यही अभिनय में भी घटित होता है –

   वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृताः।
   अंगनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थ व्यंजयन्ति हि।।
   वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निश्ठानि तथैव च।
   तस्माद् वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्।। (ना0शा0– 14/3–4)

   ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' में वाक् को सर्वव्यापी तथा सृजनशक्ति माना गया है, साथ ही व्याकरणशास्त्र तथा शिक्षा वेदांग में वाचिक अभिनय को सम्यक् वर्णित किया गया है। नाटक सम्पूर्ण रूप में वाणी पर आश्रित हैं, तथा रंगमंच में जब पात्र अपनी वाणी से अभिनय को प्रस्तुत करता है। वह वाचिकाभिनय कहलाता है–

वाचा विरचितः काव्यनाटकादिस्तु वाचिकः। (अभि0 दर्पण–39)

आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के अधोलिखित बारह भेद बताये है –

1. आलाप, 2. मिलाप, 3. प्रलाप, 4. अनुलाप, 5. अपलाप, 6. सलाप, 7. अतिदेश, 8. सन्देश, 9. उपदेश, 10. निर्देश, 11. व्यपदेश, 12. अपदेशादि।

उपरोक्त समस्त भेदों का प्रयोग पात्रों द्वारा नाटकाभिनय के समय में सुन्दर ढंग से किया जाता है।

3. **सात्त्विकाभिनय** – दूसरों के सुख–दुःखादि भावों से युक्त अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं। अन्य तीन अंगों के उपलब्ध होने की अवस्था में भी यदि हृदयस्थ सात्त्विक भावों का संयोजन जब तक नहीं होगा, तब तक अभिनय अधूरा ही होता है। वह कभी भी सामाजिकों को रसास्वाद अथवा आनन्दानुभूति द्वारा चरमस्थिति को प्राप्त नही करा सकता है।

   अतः अभिनय के चारों अंगों का समवेत रूप में प्रयोग होने पर ही श्रेष्ठ नाटयाभिनय की अवस्था प्राप्त होती है। अभिनय करने वाले पात्र अपने हाव–भावों के माध्यम से रामकृष्ण, सीतादि से सामंजस्य चरित्रवत् स्थापित कर लेता है। इस प्रकार पात्रों द्वारा किये जाने वाले स्वरूप का आरोप ही नाट्य में सात्त्विकाभिनय कहा जाता है। संगीतरत्नाकर में शारंगरव ने कहा है, कि भावुक अभिव्यक्ति से ओत–प्रोत अभिनय सात्त्विक कहलाता है –

   सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावुकेन विभावितः।

   नाट्य में दूसरे के भाव का उपस्थापन या दूसरे शरीर में प्रवेश की पूर्वावस्था पात्र (नट) की अवस्थिति से संभाव्य है। सत्त्वावस्था में पात्र स्वात्म चिंतन के प्रति सतर्क होता हैं, यही एकाग्रता सत्त्व है।

4. **आहार्याभिनय** –'आ' उपसर्गपूर्वक 'हृ' (आहरण, खीचना, ले जाना) धातु से निष्पन्न आहार्य शब्द निर्मित हुआ है। संस्कृत के आचार्यो ने कृत्रिम शब्द का अर्थ भी आहार्य प्रयुक्त किया है। आचार्य भरत ने नेपथ्य सम्बन्धी क्रियाओं को आहार्य कहा है। समस्त प्रकार के अभिनयों की विरामावस्था के पश्चात् भी आहार्य वर्त्तमान रहता है –

   तेन समस्ताभिनयप्रयोग चित्रस्य भित्तिस्थानीयमाहार्यम्।
   तथा च समस्ताभिनयव्युपरमेऽपि नैपथ्यविषेशदर्षनाद्
   विशेषोऽवसीदतस्वं। (अभि0 भा0–पृ. 103)

नाटकों को गति प्रदान करने वाले पात्रों का कार्य व्यापार ही अभिनय कहा गया है। आहार्य में बार बार परिवर्तन नहीं होता हैं, यह स्थायित्व होने के कारण स्थायी भाव से युक्त हो जाता है, इस प्रकार रसादि से आहार्य अभिनय का समावेश अन्तरंग हो जाता है–

जिस समय वेणीसंहार में द्रोण पुत्र अश्वत्थामा का प्रवेश होता है। वह महारथी के रूप में वेशभूषा धारण करके युद्ध भूमि में जैसे ही युद्ध के लिए उद्यत होता है, वैसे ही उसे उसके पिता द्रोण का कपट से वध करने का वृतान्त बताया जाता है। वहां पर दृश्य में करुण रस व्याप्त हो जाता है किन्तु अश्वत्थामा की वेशभूषा महारथी की तरह ही

पूर्ववत् रहती है। करुण रस की प्रधानता होते हुए भी युद्ध में वीर रस ही प्रधान रहता है। इस तरह दृश्य के मुख्य रस का स्थायी भाव बना रहता है। आहार्य को मुख्य रूप से चार भागों मे विभाजित किया गया है–

1. **पुस्त** – आकृति–निर्मित रचना को पुस्त कहते हैं, इसके तीन भेद हैं।

   (1) संधिम –दो को जोडकर बनायी गयी आकृति सन्धिम होती है।

   (2) व्याजिन – सिलाई करके निर्मित आकृति व्याजिन कही जाती है।

   (3) वेश्टिम –लाल रंगादि से निर्मित आकृति वेष्टिम कही गयी है।

2. **अलंकार** –इसमें सुन्दर वस्त्र, आभूषण राग, हार आदि सजने सजाने वाले अलंकरण आदि प्रसाधन का शरीर के समस्त अंगों के आधार पर समुचित विन्यासों का सौन्दर्य अन्तर्निहित होता है।

3. **अंगवर्तना** –श्वेत, नील, पीत एवं रक्त वर्ण के रंगों से अंगों को वस्त्रादि के धारण करने से पूर्व रंगना ही अंगवर्तना कहा गया है।

4. **संजीव** –पात्रों द्वारा रंगमंच पर दो प्रकार की भूमिकाओं का निर्वहन होता है। एक जीव युक्त तथा द्वितीय जीव विहीन। जिसमें जीवन धारक पात्र अभिनेता आदि संजीव रूप में चित्रित होते हैं, किन्तु पर्वत, नदी आदि जीवविहीन होने पर भी उनका सरस और सजीव चित्रण होने के कारण वे भी संजीव कहे गये हैं।

नाट्यभेद एवं उनके लक्षण–

संस्कृतसाहित्य में वर्णित नाट्य मुख्य रूप में रस की प्रधानता से युक्त है, नाटकीय कथावस्तु एवं यथार्थ तथ्यों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है जितना कि दर्शकों को किसी दृश्य विशेष में रसाभिव्यक्ति की प्राप्ति पर दिया जाता है। अर्वाचीन संस्कृतनाटकों में चारित्रिक चित्रण, मुख्य अंगो में नहीं माना जाता है, इसीलिए संस्कृत के बहुतायत नाटक एक आदर्शवादितायुक्त काव्यविधा बन कर रह गये हैं जो कि रस की प्रधानता को ही प्रमुख मानता है। संस्कृत नाटकों का समापन हमेशा ही सुखद होता है तथा नाट्य की प्रारम्भावस्था अथवा मध्यावस्था में कष्ट, पीडा सम्बन्धी दृश्यों की संयोजना होती है, दुखान्त नाटकों का मानव के मन पर गहरा प्रभाव होता है, तथा वे मानव को निराशावादी बना देते हैं, नाटक के अन्त में पाप अथवा अधर्म का नाश करके सुखद अनुभूति प्राप्त होती है, जो आशावादी और उन्नति कारक होते हुए, अधर्म पर अंकुश लगाने की ओर सामाजिकों को प्रेरित करता है।

संस्कृतनाटकों की यह विशेषता रही है कि वे अशिष्ट, असभ्य, चुम्बनदृश्य, आलिंगनदृश्य, सम्भोगादि दृश्यों को रंगमंच पर अभिमंचित नहीं करता है, क्योंकि इससे दर्शकों का रसभंग हो जाता है, जो कि वर्तमान भौतिकवादी परिदृश्य के विपरीत है।

संस्कृतनाटकों में मुख्य रूप से संस्कृत या प्राकृत दोनों भाषाओं के मिश्रित स्वरूप का दिग्दर्शन होता है, जिसमें नायक कुलीन घर का पुरुष, संस्कृत भाषा का प्रयोग करता है, तथा स्त्री पात्र एवं निम्न वर्ग के पुरुष पात्र सामान्यतया प्राकृतभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि संस्कृत नाट्यपरम्परा मौलिक रही है। जिसमेंनाट्य या रूपक शब्द ही मुख्यतया प्रयोग में आते हैं।नाटक शब्द का प्रयोग कम देखा गया है, क्योंकि

नाटक नाट्यविधा (रूपक) का एक अंगभाग स्वीकृत किया गया है। आचार्य भरत ने नाट्य के लक्षण निम्नवत् बताये हैं –

प्रख्यातवस्तुविशयं प्रख्यातोदात्तनायकंचैव।
राजर्शिवंष्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्।।
नानाविभूतियुक्तं ऋद्धि विलासादिभिर्गुणैष्चैव।
अंक प्रवेषकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम।।
नृपतीनां यच्चरितं नानारसभाव चेश्टितं बहुधा।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम।। (ना0 शा0– 20/10–12)

पूर्व इकाई (भाग– 01) में प्रथम पांच रूपकों (नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन एवं डिम) का विस्तृत विवेचन किया गया। इस इकाई (भाग– 02) में अवशेष पांच (व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहामृग) रूपकों का विस्तृत विवेचन प्रस्तावित है –

21.3.1 व्यायोग

इसमें कथावस्तु इतिहास अथवा पौराणिक होती है, तथा विख्यात कथा होती है, अंक मात्र एक ही होता है, स्त्री पात्रों की संख्या अल्प होती है, तथा पुरुष पात्रों की संख्या अधिक होती है, इसमें मुख, प्रतिमुख, एवं निवर्हण संधियां हीहोती हैं। गर्भ तथा विमर्श सन्धि का अभाव होता है। इसका नायक धीरोद्धत कोटि का होता है। नवरसों में से हास्य तथा श्रृंगार को छोडकर अन्य सभी रस होते हैं, इसकी कथा एकदिवसीय होती है, तथा कैशिकी के अतिरिक्त सात्त्वती, आरभटी एवं भारती वृत्तियां होती हैं। इसमें युद्ध का वर्णन होता है, जिसका हेतु स्त्री नहीं होनी चाहिए, नायक दिव्यपुरुष होता है, मुख्य रस वीर होता है, इसमें होने वाले युद्ध का फल स्त्री नहीं होती है, अर्थात् युद्ध स्त्री की प्राप्ति के प्रयोजन से नहीं लड़ा जाता है। महाकवि भासकृत मध्यम व्यायोग इसका उदाहरण है, अथवा जामदग्न्यजय व्यायोग में परशुराम का संग्राम स्त्री के कारण नहीं होता है–**('अर्थात् परषुराम द्वारा अपने पिता को मारेजाने की अवस्था से अत्यन्त क्रोधित होकर सहसार्जुन को मार डालना') आदि।**

'विशेषेण आ समन्तात् युंजन्ते कार्यार्थं समन्तेऽत्रेति व्यायोगः' अथवा **'व्यायुज्यन्ते अस्मिन् बहवः पुरुशाः'** व्युत्पत्ति से ही व्यायोग शब्द की उत्पत्ति हुई है, आचार्य धनंजय के अनुसार व्यायोग निम्नवत् कहा गया है –

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।।
अस्त्रानिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकाहाचरितैकांको व्यायोगो बहुभिर्नरैः।।(दशरूपक– 3/60–61)

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार व्यायोग को अधोलिखित रूप में वर्णित किया गया है–

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः।।
एकांकश्च भवेदस्त्री निमित्तसमरोदयः।
कैशिकी वृत्तिरहितः प्रख्यातस्त्रनायकः।।
राजर्षिरथदिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।

हास्यश्रृंगारशान्तेभ्य इतरेऽत्रांगिनो रसाः।।

व्यायुज का अर्थ– अलग किया जाना, हैं। डिम रूपक में नाटकों का संघात (मेल) तथा व्यायोग में पृथक् होता है।

21.3.2 समवकार

संगतैरवकीर्णैष्चार्थः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते यत्र स समवकारः।

अर्थात् समवकार देवताओं एवं दैत्यों से संबन्धित पौराणिक व इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु होती है,इसमें मुख, प्रतिमुख, गर्भ एवं निवर्हण संधियां हीहोती हैं, तथा विमर्श संधि का अभाव होता है। सात्त्वती, आरभटी एवं भारती वृत्तियां होती है, कैशिकी वृत्ति का अभाव देखा जाता है, इसमें नायक पात्र देव या असुर होते हैं, ये सभी नेता ऐतिहासिक दृष्टि से विख्यात होते हैं, जिनकी संख्यां द्वादश(12) होती है, ये सभी पृथक्– पृथक् फलों की सिद्धि से युक्त होते हैं, सभी नेता वीररस प्रधान होते हैं, जैसे कि ''समुद्रमन्थन'' नामक समवकार में दृष्टिगत होता है, समवकार में मात्र तीन ही अंक पाये जाते हैं, त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम से युक्त होती हैं। तीन बार समस्त पात्रों में हलचल तथा भय की स्थिति देखी जाती है, तथा प्रथम अंक में मुखसंधि तथा प्रतिमुख संधियों का संयोजन आवश्यक होता है, कथावस्तु चौबीस घटी अर्थात् बारह नलिका युक्त होती है, एवं द्वितीयांक में चार तथा तृतीय अंक में दो नलिका की कथावस्तु होती है, एक नलिका का तात्पर्य दो घडी स्वीकृत की गयी है। तीनों प्रकार के अंकों की योजना कथावस्तु, व्यवहार एवं आसुरी शक्तियों के द्वारा किये जाने वाले कार्य होते हैं, जैसे– संग्राम, आग, वातादि निन्दनीय कर्मों के कारण विद्रोह एवं भगदड वर्णित होता है, इसमें त्रिवर्गों (धर्मार्थकामादि) का तीन प्रकार का श्रृंगार देखा जाता है। इसमें बिन्दु (अर्थप्रकृति) तथा प्रवेशक (अर्थोपक्षेपक) नहीं होता है, प्रहसनवत् वीथ्यंगों का संयोजन किया जाना चाहिए। –

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकदिवत्।
ख्यातं देवासुरं वस्तु निविमर्शास्तु सन्धयः।।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः।
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने।
अंकैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिश्रृंगारस्त्रिविद्रवः।।
द्विसन्धिरंकः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः।
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्यु कपटास्त्रयः।
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।।
धर्मार्थकामैः श्रृंगारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।
वीथ्यंगानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।।(दशरूपक– 3/62–67)

साहित्यदर्पणानुसार –

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।
सन्धयो निविमर्शास्तु त्रयोंगास्तत्र आदिमे।।
सन्धि द्वावन्त्य योस्तद्वदेक एको भवेत् पुनः।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवदानवाः।।
फलं पृथक्–पृथक् तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः।
वृत्तयो मन्दककैशिक्यो नात्र बिन्दु प्रवेशकौ।।(सा0दर्पण– 6/233–235)

इसमें त्रिविध (धर्मार्थकाम) श्रृंगारों की स्थिति निम्नवत् है– धर्मश्रृंगार, अर्थश्रृंगार, कामश्रृंगार। इसमें कामश्रृंगार के तीन भेद हैं– स्वाभाविक, कृत्रिम तथा दैवत। तथा विद्रव भी तीन प्रकार के हैं– अचेतन, चेतन तथा चेतनाचेतन आदि। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार –

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः श्रृंगारः कपटः पुनः।
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवज्ञो विद्रवः पुनः।।
अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः।।(सा0दर्पण– 6/239–240)

आचार्य धनिक ने समवकार का निर्वचन निम्नवत् किया है–

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः।

अर्थात् नानाविध अर्थचित्रों का सम्यक् संयोजन समवकार कहलाता है, इसका सम्बन्ध काव्यप्रयोजनों से है। नाटक में जैसी बिन्दु तथा प्रवेशकादि की संयोजना की जाती है, वैसी समवकार में दृष्टिगत नहीं होती है।

21.3.3 वीथी

नाट्यसाहित्य में वीथी के तेरह अंग स्वीकार किये गये हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। मुखसंधि एवं निवर्हण संधि होती है तथा मात्र एक ही अंक होता है, कथावस्तु कविकल्पित मानी गयी है। सभी रसों की उपस्थिति आंशिक रूप में होती है किन्तु प्रमुख रूप में श्रृंगार रस होता है। उद्घात्यक, अवस्पन्दित, छल, व्यवहार, भूद्रव, त्रिगत, गण्ड, प्रपंच, वाक्केलि, अधिवल, नालिका, असत्प्रलाप, अवगलितादि प्रस्तावना के तेरह अंगों से संयोजित होती है। नाट्यशास्त्र में आचार्यों ने उपरोक्त तेरह अंगो को निम्नवत् बताया है–

अस्यास्त्रयोदशांगानिनिर्दिषन्ति मनीशिणः।
उद्धात्यकावगलिते प्रपंचस्त्रिगत छलम्।।
वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्यन्दित नालिके।
असत्प्रलापव्याहारमृद वानि च तानि तु।।

इसका उदाहरण वकुलवीथी तथा इन्दुलेखा, मालविका आदि प्रसिद्ध हैं।

इसमें मात्र एक या दो ही पात्र होते हैं। उत्तम, मध्यम अथवा अधम के रूप में नायक की कल्पना की जाती है, तथा सभी अर्थप्रकृतियां (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य) होती हैं।

वीथी की व्युत्पत्ति **''वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी''** की गई है। वीथी का अर्थ– ''रास्ता या अंगों की पंक्ति'' होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार –

> **''वीथ्यामेको भवेदंको कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।**
> **आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।।**
> **सूचयेद्भूरिश्रृंगार किंचिदन्यान् रसान् प्रति।**
> **मुखनिवर्हणेसन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः।।**(सा0दर्पण– 6/253–254)

दशरूपककार आचार्य धनंजय के अनुसार –

> **''वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यंगांकैस्तु भाणवत्।**
> **रसः सूच्यस्तु श्रृंगारः स्पृषेदपि रसान्तरम्।।**
> **युक्ता प्रस्तावनाख्यातै रंगैरुद्घात्यकादिभिः।**
> **एवं वीथी विधातव्या द्वयेकपात्रप्रयोजिता।।**(दशरूपक– 3/68–69)

वीथी में संधि के अंगों का प्रयोग भाण की तरह किया जाना चाहिए। अन्तर यह है, कि वीथी में श्रृंगार रस मात्र सूच्य है, तथा अन्य रसों का भीसन्निवेश अवश्य करना चाहिए, श्रृंगार रस का औचित्य, कैशिकी वृत्ति पर ही सम्भाव्य होती है।

21.3.4 अंक

अंक की कथावस्तु पौराणिक ऐतिहासिक रूप में विख्यात होती है। एक ही अंकयुक्त होता है, सामान्यपुरुष ही नायक होते हैं। स्त्रियों का रुदन बहुत मात्रा मेंहोता है, अंक को उत्सृष्टिकांक भी कहा गया है। कवि द्वारा कथावस्तु में स्वविवेकानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। अंक में मुख्य रस करुण होता है, तथा भारती वृत्ति होती है, एवं मुखसंधि एवं निवर्हण संधियांहोती हैं। करुण रस होने के कारण इसमें स्त्रियों का अधिक विलाप होता है, इसमें झगडों तथा जीत–हार का भी संयोजन किया जाना चाहिए–

> **उत्सृष्टिकांके प्रख्यातं वृत्तं बुद्धया प्रपंचयेत्।**
> **रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।।**
> **भाणवत्सन्धिवृत्त्यंगैर्युक्ति स्त्रीपरिदेवितैः।**
> **वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ।।**

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार –

> **''उत्सृष्टिकांगः एकांगो नेतारः प्राकृताः नराः।**
> **रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्री परिदेवितम्।।**
> **प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपंचयेत्।**
> **भाणवत् संधिवृत्यंगान्यस्मिन् जयपराजयौ।।**
> **युद्धुं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु।।**

भरत मुनि के अनुसार –

प्रख्यातवस्तु विषयस्त्वप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात्।
दिव्यपुरुषैः वियुक्त शेषैरन्यैर्भवेत् पुंसि।।

अंककाप्रमुख उदाहरण ''शर्मिष्ठाययाति'' है।

21.3.5 ईहामृग

इसकी कथावस्तु इतिहास व किंचित कवि के द्वारा कल्पना युक्त होती है। चार अंक होते हैं। पांच सन्धियों में से मुख, प्रतिमुख, एवं निवर्हण संधियां हीहोती हैं। मानव एवं देवता के नियमानुसार इसमें नायक–प्रतिनायक संयोजित होते हैं, जो कि धीरोद्धत कोटि के नायक तथा ऐतिहासिक रूप से विख्यातहोते हैं, इसमें प्रतिनायक की योजना इस प्रकार से की जाती है, कि वह मूढता एवं भ्रान्तिवश, अधर्मी होकर गलत कार्य को करने वाला अभिमंचित किया जाता है। वह एक युवती को जो कि उत्तम सुन्दरी होती है, प्रतिनायक द्वारा उसके अपहरण आदि से श्रृंगार रस की स्थिति प्रदर्शित की जाती है, तथा ईहामृग को कवि द्वारा इस तरह से प्रस्तुत किया जाना चाहिए, कि नायक एवं प्रतिनायक के मध्य भयंकर प्रतिद्वन्द्विता के कारण परस्पर युद्ध की तैयारी रहती है, किन्तु युद्ध की स्थिति आते ही किसी विशेष परिस्थिति या बहाने से युद्ध टल जाता है, तथा प्रतिनायक की मृत्यु नहीं होती है।

''नायको मृगवदलभ्यां नायिकां नायिकाऽस्मिन्नीहते इति ईहामृगः।''

ईहामृग का तात्पर्य है कि नायक मृग की तरह किसी अप्राप्त नायिका को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा करता है, इसमें नायक और प्रतिनायक विख्यात धीरोद्धत श्रेणी का होता है–

मिश्रमिहामृगे वृत्तं चतुरंगं त्रिसन्धिमत्।
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ।।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्योः विपर्यासादयुक्तकृत्।
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः।।
श्रृंगाराभासमप्यस्य किंचितकिंचितप्रदर्शयेत्।
सरंम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत्।।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः।।

दिव्य अथवा मर्त्यादि दश प्रकार के पताका नायकों का होना भी आचार्यों द्वारा बताया गया है, यदि ईहामृग में एक ही अंक का अभिमंचन किया जाना हो, तो उसमें देवता ही नायक होता है, तथा दिव्य स्त्री प्राप्त करने के लिए ही संग्राम की स्थिति आती है–

पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दषोद्धताः।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते।।
महात्मनो वध प्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो।
एकांको देव एवात्र नेतेत्याहूः परे पुनः।।
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः शडितीतरे।।

ईहामृग का उदाहरण ''कुसुमशेखरविजय'' है।

21.4 नाटिका

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यर्निवृत्तये।

उपरूपकों को संकीर्ण भेद भी कहा गया है, उपरूपको में सबसे महत्वपूर्ण उपरूपक के रूप में नाटिका को जाना जाता है, कुछ विद्वानों द्वारा प्रकरणिका को भी नाटिका के समकक्ष स्वीकृत किया गया है किन्तु आचार्य धनिक इस मत को अस्वीकृत करते हुए कहते हैं कि प्रकरण रूपक की तरह ही प्रकरणिका भी होती है, इसमे किसी प्रकार की भिन्नता नही है, तथा दोनों में नायक, वस्तु, तथा रसादि समान ही होते हैं।

जबकि नाटिका शुद्धरूपकों के संकर सम्मिश्रण से सिद्ध है, अतः संकीर्ण उपरूपकों में रचनाकार नाटिका को ही प्रधानता देते हैं।

आचार्य भरत के अनुसार–

एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञो नटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते।(ना0 शा0)

नाटिका उपरूपक की कथा वस्तु कल्पित होती है,जिसमें स्त्री पात्रों की प्रमुखता होती है, किसी प्रसिद्ध कथानक का नृप (राजा) नायक होता है, जिसकी धीरललित श्रेणी होती है, तथा इसमें (नाटिका) मुख्य (अंगी) रसश्रृंगार होता है, कवि द्वारा कल्पित इतिवृत ही प्रकरण कहलाता है। नाटिका के चार अंक होते हैं। इसमें नायिकाश्रेष्ठ राजवंश की प्रेमासक्ता मुग्धा नायिका होती है तथा कैशिकी वृत्तिहोती है, एवं अवमर्श सन्धि अल्प रूप में तथा अन्य सन्धियांपूर्ण रूप में होती हैं–

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये।
तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।
प्रख्यातो धीरललितः श्रृंगारोंऽगी सलक्षणः।
स्त्रीप्रायश्चतुरंकादिभेदकं यदि चेश्यते।।(दशरूपक– 3/43–44)

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार–

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्थात्स्त्रीप्राया चतुरंगिका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्रस्यान्नायको नृपः।।(सा0दर्पण– षष्ठ परि0)

अन्तःपुर से सम्बन्धित श्रेष्ठ राजवंश की प्रेम से आसक्त नायिका में नायक (राजा) का अनुराग होता है। नाटिका की ज्येष्ठा नायिका (रानी) होती है। जो प्रगल्भा नायिका होती है। वह गम्भीर प्रकृतियुक्ता एवं सम्मानीया होती है, तथा द्वितीया कनिष्ठा नायिका मुग्धा प्रकृति की होती है। नायक का कनिष्ठा नायिका से रतिक्रिया या संगम बडे ही परिश्रम के बाद होता है, वह संगम ज्येष्ठा नायिका की आज्ञानुसार ही सम्भव होता है। कनिष्ठा नायिका उत्कृष्ट राजवंश की ज्येष्ठा नायिकावत् ही होती है, परन्तु वह मुग्धा प्रकृति की होने के कारण प्रगल्भा, गम्भीर तथा ज्येष्ठा नायिकावत् आदरणीया नहीं होती है। वह अद्वितीय सुन्दरी होती है।

यथा–राजा उदयन रत्नावली नाटिका के नायक हैं, वहां राजा उदयन की ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता है जो कि उत्कृष्ट राजवंश की होती है, तथा गम्भीरा, प्रगल्भा, एवं

सम्मानीया है। कनिष्ठा नायिका रत्नावली है, नायक उदयन तथा कनिष्ठा नायिका रत्नावली का संगम वासवदत्ता के अधीन है। रत्नावली सागरिका भी मुग्धा नायिका है, तथा श्रेष्ठ वंशजा है–

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।
गम्भीरा मानिनी कृच्छात्तद्वशान्नेतृ संगमः।।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा।।(दशरूपक– 3/45–46)

कनिष्ठा (मुग्धा) नायिका रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली होती है, इस कारण वह राजा (नायक) के हृदय में अपने रूप तथा लावण्य से आकर्षण उत्पन्न करती है, कनिष्ठा नायिका के बारे में सुनने तथा उसे देखने से नायक उसमें प्रेमासक्त हो जाता है, इसमें नायक को नवीन प्रेम संचरण की अनुभूति होती है। आसक्ति के परिपक्व होने पर नायक उससे समागम करना तो चाहता है, किन्तु ज्येष्ठा नायिका (महारानी) से भयभीत भी रहता है, परिणामतः वह छिप– छिप कर कनिष्ठा (मुग्धा) नायिका से प्रेम व समागमरत रहता है। नाटिका में नायक का यही स्वरूप उचित प्रतीत होता है–

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम्।।
नेता यत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शंकितः।
कैशिक्यंगैश्चतुर्भिश्च युक्तांकैरिव नाटिका।। (दशरूपक– 3/47–48)

आचार्य भरत के अनुसार–

स्यादत्तः पुर संवद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा।।
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शंकितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।।
पदे–पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्प विमर्शाः संधयः पुनः।।

रत्नावली, विद्धशालभंजिका आदि नाटिका के उदाहरण हैं।

आचार्य भरत के उपरोक्त लक्षणों के आधार पर नाटिका में नृत्य, गान को आवश्यक अंग स्वीकृत किया गया है। दशरूपककार आचार्य धनंजय के अनुसार इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। नाटिका के नामकरण के सन्दर्भ में आचार्य का मानना है–

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम्।

अर्थात् नाटिका तथा सट्टक आदि नामों को नायिका विशेषण से युक्त करना चाहिए।

21.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में नाट्य के लक्षण के पश्चात्, द्वितीय भाग के पांच रूपकों (व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहामृग) का विस्तृत वर्णन किया गया है। आचार्यों द्वारा संस्कृत नाट्यपरम्परा में एक से एक उत्कृष्ट रूपकों की रचना की गयी है। इन रूपकों की रचनाओं का विकास सौ अथवा दो सौ वर्ष का वृतान्त नहीं है अपितु कई

ऐसी भी रचनायें हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं, इसका इतिहास ईसवी सम्वत् से कई शताब्दियों पूर्व का है। भास, कालिदास, अश्वघोष शूद्रक, भवभूति, हर्ष आदि नाटककारों का युग संस्कृत नाट्य जगत का अथवा रूपकों के विकास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। संस्कृत नाट्यजगत का महत्त्वपूर्ण अथवा अन्तिम कवि हम आचार्य भवभूति को कह सकते हैं, आचार्य भवभूति ने श्रृंगार एवं वीर रसों की नाट्य रचनाओं को सृजित करके इस महान नाट्य परम्परा का विकास किया। दसरूपकों का इतिहास नाट्यजगत के लिए वरदान है। संस्कृत रूपकों की परम्परा में गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचनायें प्रयुक्त की गई, कुछ नाट्यों में पद्यादि गीतों का अधिक प्रयोग देखा जाता है, वहां नाट्य के मूलतत्वों को बाधा पहुंची हैं।

संस्कृत में सभी रूपक, नाटकादि दशरूपक में विहित नियमों के अनुसार अभिमंचित होते हैं। इसलिए नाटकों की प्राच्यपरम्परा के अनुसार नान्दी, प्रवेशकादि के द्वारा प्रस्तावना, अंक, अंकावतार, भरतवाक्य, सन्धियां, सन्धियों के अंग, अर्थप्रकृतियों का प्रयोग, कार्यावस्थायें, आदि का सम्यक् प्रयोग प्राप्त होता है। सभी रूपकों का उनके स्वरूप के अनुसार अंकविभाजन किया गया है। मंचन के पश्चात् अंको के समापनादि पर पात्रों द्वारा गमन दिखलाया जाता है, रूपकों के प्रस्तुतिकरण में संस्कृतभाषा तथा प्राकृतभाषा दोनों का ही श्रेष्ठ प्रयोग होता है, उच्च एवं श्रेष्ठ कुल के नायक, ऋषि–मुनि, संस्कृत भाषा का तथा स्त्री पात्र, निम्न कोटि के पात्र व अन्य प्राकृतभाषी हैं, इनके अलावा नाट्य परम्परा के प्रमुख भेदों यथा – रस, नेता, वस्तु, का सम्यक् प्रयोग संस्कृत रूपकों (नाटकों) में बडी गम्भीरता के साथ किया गया है, इस प्रकार कहा जा सकता है, कि कोई रूपक (दस रूपकों में से) नाट्यशास्त्र अथवा दशरूपक ग्रन्थ में निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन नहीं करता है, नाट्यशास्त्रीय उच्च परम्परा का पालन सभी स्तरों पर प्राप्त होता है।

रूपकों की भांति 18 उपरूपकों में सर्वप्रधानता नाटिका को ही प्राप्त है। नाटिकामें श्रृंगार रस की प्रधानता, सहृदयों को रसास्वादन व आनन्द की अनुभूति उसी प्रकार कराती है, जैसे कि दशरूपकों द्वारा सामाजिकों को प्रसन्नता एवं ज्ञान प्राप्त होता हैं, क्योंकि नाटिका में नायिका का व्यक्तित्व प्रधान होता हैं, इस हेतु श्रृंगार रस की प्रबलता नटिका में स्वभाविक ही होती है।

21.6 शब्दावली

1. पुष्पधन्वन् – कामदेव
2. शिल्पी, कारुक – कारीगर (विश्वकर्मावत्)
3. कुमुदिनी – कुमुद की लता।
4. ज्योत्सना – चांदनी (चन्द्र कान्ति)।
5. प्रतिहार – चौकीदार (दरबान)।
6. नयिकोत्तरीय – नायिका का दुपट्टा।
7. इष्टापूर्त – धर्मार्थ यज्ञादि कर्म।
8. मन्दधीः– नालायक, अल्पज्ञ।
9. अत्यासंग – प्रबल आसक्ति।
10. अन्त्य स्त्री – नीच जाति की स्त्री।

11. अब्जयोनि – ब्रह्मा (कमलयोनि)
12. कामचारिन् – स्वेच्छाचारी, कामी
13. नवकारिका – नवविवाहिता।
14. पर्वणी – पूर्णिमा।
15. प्रकरी – नाटक की उपकथा।
16. प्रेक्षक –दृष्टा, सामाजिक।
17. भामिनी – शीघ्र रूठने वाली
18. माधुर्य – सौन्दर्य
19. रतिकर – आनन्द करने वाला।
20. वरवर्णिनी – रूपवती, वनिता।
21. शुचिप्रणी – जल से आचमन करने वाला।

21.7 बोध प्रश्न

1. नाट्यभेदो से आप क्या समझते हैं? विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. अंक किन्हें कहते हैं? प्रतिपादन कीजिए।
3. समवकार का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है? लक्षण सहित समझाइये।
4. व्यायोग नाट्य की कौन सी विधा है? उदाहरणपूर्वक समझाइये।
5. वीथी का शाब्दिक अर्थ बतलाते हुए नाट्य में प्रयोग कर स्वविचार व्यक्त कीजिए।
6. ईहामृग का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
7. नाटिका का परिचय देते हुए, कुछ महत्वपूर्ण नाटिकाओं पर प्रकाश डालिये।

21.8 सन्दर्भित पाठ्य पुस्तकें / सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – लेखकः वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, चौक वाराणसी –2003
2. संस्कृत साहित्य का वृहद् इतिहास – डा0 पुष्पा गुप्ता– ईस्टर्न बुक लिंकर्स 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली – 2011
3. दशरूपक, – डा0 भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन, चौक वाराणसी– 2011
4. नाट्यालोचन – डा0 लक्ष्मी नारायण भारद्वाज– नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली – 1989
5. भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनय दर्पण – चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, नई, दिल्ली– 1976
6. नाट्यशास्त्र – श्री बाबूलाल सक्सेना, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी– 2008
7. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच – मोहनवल्लभ पन्त, नेशनल बुक ट्रस्ट,नई दिल्ली – 1971